गांधी की दृष्टि

अगला कदम

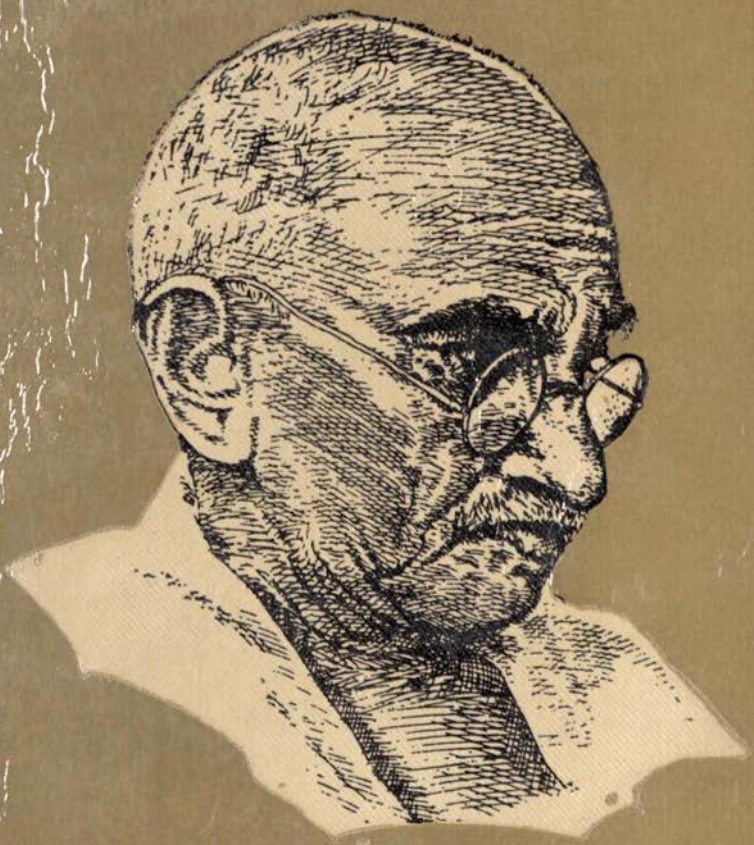

दादा धर्माधिकारी

गांधी की दृष्टि : अगला कदम

लेखक
दादा धर्माधिकारी

GRF 01712

Gandhi Research Foundation
Acc No.: 947
Call No.:
Price : 16/-
Date : 17/7/2007

संकलन-सम्पादन
तारा धर्माधिकारी

GANDHI BOOK CENTRE
Bombay Sarvodaya Mandal
299 Tardeo Road, Nana Chowk,
Mumbai 400007 INDIA ✆: 2387 2061
email: info@mkgandhi.org
www.mkgandhi.org

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

गांधी की दृष्टि : अगला कदम

•

लेखक :
दादा धर्माधिकारी

•

संकलन-संपादन
तारा धर्माधिकारी

•

संस्करण : दूसरा
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : ३०००
मार्च, १९९८

•

प्रकाशक :
सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी-२२१००१

•

अक्षर संयोजन :
कॉम्प्प सक्सेस
४३, शिवाजी नगर कॉलोनी, महमूरगंज,
वाराणसी। फोन नं० २२३०४१

•

मुद्रक :
सुरभि प्रिंटर्स
इण्डियन प्रेस कॉलोनी,
मलदहिया, वाराणसी-२२१००२

•

मूल्य : सोलह रुपये

इस पुस्तक का पुनर्मुद्रण
कृणाल स्मृति फंड
बंबई (महाराष्ट्र)
के आर्थिक सहयोग से किया गया।

Gandhi Ki Drishti : Agla kadam

•

By :
Dada Dharmadhikari

•

Edited by :
Tara Dharmadhikari

•

Price : 16/-

प्रकाशकीय

गांधी मानवीय सांस्कृतिक क्रान्ति का सर्जनहार था। उसने मानव के व्यक्तिगत जीवन और सामूहिक जीवन के संयुक्त परिवर्तन की अभिनव प्रक्रिया खोज निकाली। वह थी एकादश व्रतों का नम्रता और निष्ठा से पालन और अनुशीलन। इससे देश की आजादी के आन्दोलन को शान्तिमय पथ–प्रदर्शन मिला, राष्ट्रीय कांग्रेस का नवीनीकरण हुआ और आम जनता में जागृति और निर्भयता की लहर पैदा हो गयी। गांधीजी के विस्मयकारक, स्फूर्तिदायक और प्रभावशाली नेतृत्व के कारण ही वे अपने पुरुषार्थ से महात्मा बने और अनासक्त कर्मयोग से महा–मानव बने। इस सबकी बुनियाद में उनकी आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दृष्टि थी। गांधी की दृष्टि सत्यमय थी। सत्य ही उनका परमेश्वर था। उनका सारा जीवन सत्य के प्रयोग में बीता। जीवनभर उन्होंने व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय चुनौतियों का साहस से सामना किया। और समय–समय पर उसमें दिखे सत्य को दृढ़ता से स्वीकार किया तथा अहिंसा से उस पर अमल किया। गांधी की दृष्टि सत्य, अहिंसा, निर्भयता, सत्याग्रह आदि मानवीय मूल्यों पर आधारित थी। गांधी अपनी दृष्टि में जिस सत्य को देखते व अनुभव करते थे उसे अक्षर देह के द्वारा आम जनता तक पहुँचाने का और ज्ञानवर्धन करने का काम जिन्होंने किया उनमें दादा धर्माधिकारी का स्थान बहुत ऊँचा है।

आचार्य दादा धर्माधिकारी गांधी विचार और सर्वोदय–दर्शन के विद्वान् व्याख्याता रहे हैं। उनकी सरल, सुबोध, हृदयस्पर्शी भाषा और मनोहारी शैली का 'गांधी की दृष्टि में पाठक अनुभव करेंगे। दादा 'सर्वोदय' पत्रिका के एक कुशल सम्पादक भी रहे हैं। 'सर्वोदय' में सम्पादकीय टिप्पणियों के लिए 'सर्वोदय की दृष्टि' नाम से एक स्तम्भ था उसमें अधिकांश लेखन दादा का हुआ है, उसी पर से यह संकलन तैयार हुआ है, इसके पूर्व 'गांधी की दृष्टि' नाम से एक अलग पुस्तक छप चुकी है। उसी कड़ी में यह दूसरी पुस्तक 'गांधी की दृष्टि : अगला कदम' नाम से पाठकों के हाथ में है। इसमें गांधी–युग के उन मौलिक मुद्दों पर तल–स्पर्शी–चिन्तन, समीक्षा एवं निर्भयता एवं मुक्तापूर्वक व्यक्त हुई है। 'गांधी की दृष्टि : अगला कदम' दादा के क्रियाशील चिन्तन और ज्ञानबोध की सम्पदा है। उनकी पुत्रवधू श्रीमती तारा धर्माधिकारी ने दादा के उन व्याख्यानों का संकलन तैयार किया है, इसके लिए हम उनके आभारी हैं। 'गांधी की दृष्टि : अगला कदम' प्रकाशित कर पाठकों को उपलब्ध कराने में हमें आनन्द हो रहा है। पाठक और चिन्तक इससे अपना ज्ञानवर्धन करेंगे और शोधक अपना जीवन–शोधन कर लाभ उठायेंगे, ऐसी आशा है।

भूमिका

१९३३ में गांधी सेवा संघ की स्थापना हुई थी। उद्देश्य यही था कि गांधी-विचार के अनुसार जो काम चल रहे थे उन्हें संगठित किया जाय। गांधीजी ने तरह-तरह की प्रवृत्तियाँ शुरू करवायी थीं। इन प्रवृतियों के पीछे सत्य, अहिंसा, स्वदेशी और शरीरश्रम का एक दर्शन था। उस दर्शन की मीमांसा, विवेचन और विकास हो इस विचार से एक पत्रिका की भी जरूरत महसूस होने लगी और १९३८ के अगस्त में 'सर्वोदय' नामक मासिक पत्रिका का प्रारम्भ हुआ। उसके सम्पादक थे स्व० आचार्य काकासाहब कालेलकर और स्व० आचार्य दादा धर्माधिकारी। पहले अंक के संपादकीय में दादा ने 'सर्वोदय' की भूमिका का बहुत विस्तार से स्पष्टीकरण किया है।

१९४२ में कुछ स्थिति ऐसी बनी कि 'सर्वोदय' को आर्थिक घाटा होने लगा। मासिक बन्द किया जाय ऐसा लगने लगा। गांधीजी को शायद यह जँचा नहीं। उन्होंने जुलाई में एक खास निवेदन जारी किया पाठकों के लिए जो इस प्रकार था—

हिन्दी भाषा-प्रेमी जानते ही हैं, कि 'सर्वोदय' मासिक वर्धा से निकलता है। इसके संपादक श्री काका कालेलकर और श्री दादा धर्माधिकारी हैं। वैसे तो सचमुच तीन हैं, क्योंकि श्री किशोरलाल भी प्रायः प्रति अंक में लिखते हैं। इस मासिक का उद्देश्य है, सत्याग्रह-शास्त्र की तात्त्विक चर्चा करना और उसके शुद्धतम रूप का प्रचार करना, जिससे सबका— जगत् मात्र का— उदय होवे। पिछले चार वर्ष से यह मासिक निकल रहा है, लेकिन प्रति वर्ष करीब दो से तीन हजार का घाटा रहता है। इसलिए अब यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ है, कि क्या इतना घाटा सहकर भी यह मासिक चलाया जाय ? कई मित्रों की राय है कि घाटा उठाकर भी 'सर्वोदय' जारी रखा जाय। कई कहते हैं कि जब उसकी कद्र उसका खर्च निकलने जितनी भी नहीं है, तो फिर उसे निकालने से फायदा क्या ? इन दोनों पक्षों का समर्थन एक हद तक हो सकता है। लेकिन एक मध्यम मार्ग तो यह है कि ग्राहकों से पूछा जाय। ग्राहक इस घाटे की बात स्पष्ट रूप से नहीं जानते हैं। अगर वे 'सर्वोदय' का निकलना आवश्यक समझते हैं, तो प्रत्येक ग्राहक कम-से-कम एक और ग्राहक बना दे, तभी घाटा मिट सकता है। अभी करीब नौ सौ ग्रहक हैं। दो हजार होने से घाटा मिटेगा। जो ग्राहक नये ग्राहक नहीं बना सकते, वे अगर धनी हैं, तो एक या दो ग्राहकों का चन्दा भेज सकते हैं। कुछ जिज्ञासु किन्तु मुफ्त माँगनेवाले लोग रहा ही करते हैं, वे चन्दा दे ही नहीं सकते। यदि उनका चन्दा देनेवाले कुछ सज्जन मिल जायँ, तो उनको 'सर्वोदय' पहुँच सकता है। 'हरिजन-सेवक' में इस बात का उल्लेख करने का खास मतलब यह है, कि इससे 'सर्वोदय' के ग्राहकों के अलावा दूसरों को भी घाटे का पता चल सकेगा। 'सर्वोदय' की नीति बिलकुल 'हरिजन' की ही है। लेकिन 'सर्वोदय' में 'हरिजन-नीति' का शास्त्रीय विवेचन किया

जाता है, और वह तटस्थता के साथ। ऐसी कोई बात नहीं है, कि संपादकों को 'हरिजन-नीति' का अनुसरण करना ही चाहिए। जहाँ तक उनकी बुद्धि जा सकती है, वहीं तक वे 'हरिजन-नीति' का प्रचार करते हैं। और क्योंकि प्राय: वे 'सर्वोदय' को तथाकथित राजनीति से अलग रखने की चेष्टा करते हैं, इसलिए 'हरिजन यदि खतरे में पड़ जाय, तो भी 'सर्वोदय' बच जाय और उसकी मारफत लोगों को कुछ तो खुराक मिला करे, ऐसा भी लोभ 'सर्वोदय' निकालने में रहता है।

लेकिन १९४२ के अगस्त में ही 'भारत छोड़ो' आंदोलन में सभी नेताओं को— दादा को भी बंदी बनाया गया। 'सर्वोदय' भी बन्द हुआ। १९४५ में जेल से रिहाई हुई। सर्वोदय फिर से चालू करने की माँग होने लगी। विचार पक्का होते-होते १९४९ साल आया। अब की बार विनोबाजी को संपादन का जिम्मा सौंपा गया और दादा कार्यकारी संपादक रहे।

'सर्वोदय' में संपादकीय टिप्पणियों के लिए 'सर्वोदय' की दृष्टि' नाम से एक स्तंभ चलाया जाता था। विनोबाजी, काकासाहब और दादा इस स्तंभ के लिए लिखते थे लेकिन अधिकतर लेखन दादा ने ही किया। दादा की लिखीं इन टिप्पणियों का ही यह संकलन है।

दादा गांधी-युग की शृंखला की उन अंतिम कड़ियों में से थे, जिन्होंने गांधीजी के जाने के बाद भी उनके अभिनव क्रांति विचार को जीवित रखा। दादा एक क्रियाशील सत्त्वचिंतक और समीक्षक थे। उनके समग्र विवेचन में मानवीय मूल्यों का तलस्पर्शी और व्यापक संदर्भ हुआ करता था। मौलिक मुद्दों के अद्भुत और सुबोध प्रस्तुतिकरण में उनकी अपनी विशेषता थी। विचार देने की अपेक्षा विचार करने की शक्ति जागृत करने पर उनका अधिक जोर रहता था। इसी दृष्टि से समाज-प्रबोधन का रास्ता उन्होंने अपनाया था। यह कार्य कलम और भाषणों द्वारा वे करते रहे।

परतंत्रता का युग था। निर्भयता से कलम चलाना इतना आसान नहीं था। विशेषत: अंग्रेज सरकार के नीति-नियमों और आचरण की आलोचना करना बहुत ही कठिन कार्य था। इसके लिए बुद्धि, लेखनकौशल्य और विचारों की स्पष्टता की जरूरत थी। दादा ने ये सारे गुण आत्मसात् किये थे। 'सर्वोदय' के संपादकत्व में दादा एक 'पत्रकार' के रूप में उभर आये। 'सर्वोदय की दृष्टि' में दादा ने अपनी अनोखी शैली में विविध विषयों पर लेखन किया।

इस ग्रंथ में संग्रहीत 'रामराज और हरामराज' लेख में दादा कहते हैं— "सर्वोदय का उद्देश्य संसार को मनुष्य के नाप का, मनुष्य के जीने के लिए और फलने-फूलने के लिए अनुकूल बनाना है। मनुष्य के लिए से मतलब किसी एक मनुष्य के लिए या अधिक से अधिक मनुष्यों के लिए नहीं। मनुष्य के लिए यानी हरएक मनुष्य के लिए, सब मनुष्यों के लिए। उपयोगितावादी मिल ने कहा— "हमारा उद्दिष्ट अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख है।" सर्वोदय के प्रवक्ता गांधी ने कहा, "नहीं-नहीं।

हमारा उद्दिष्ट सभी मनुष्यों की अधिक से अधिक भलाई है"।"

इस तरह दादा ने गांधी–विचार की मौलिकता और विशेषता समझाने की कोशिश इन टिप्पणियों में की है। सर्वत्र संप्रदायवाद, जमातवाद का विष फैला हुआ था, शस्त्रास्त्रों की आवाज खनखनाती थी, मनुष्य मनुष्य का ही वैरी बनने में जीवन की कृतार्थता मान रहा था। ऐसे समय में गांधीजी की मानवनिष्ठ विचारप्रणाली का आधार लेकर अपनी बातें लोगों को समझाने में दादा ने अपनी शक्ति उड़ेल दी। इस देश को 'कलिभूमि' बनने से बचाना है तो सहजीवन— सभी भाषाओं, वर्णों और मजहबों के लोगों का संयुक्त जीवन यही एकमात्र उपाय है, यह गांधीजी का दर्शन था और दादा उसे बहुत ही मानते थे। इसी की व्याख्या दादा के लेखन में जगह–जगह पहले पढ़ने को मिलेगी।

आज दुनिया की महासत्ताएँ संघर्ष टालने के लिए उद्युक्त हैं। विश्वशान्ति का मार्ग खोज रही हैं। अण्वास्त्रमुक्त और हिंसाचाररहित दुनिया देखने की उनकी आकांक्षा हो रही है। फ्रेंच क्रांति और रशियन क्रांति ने दुनिया को नया मोड़ दिया था। वे ही देश अब अहिंसा का और शान्ति का रास्ता चलना चाह रहे हैं। दादा के शब्दों में भी यही व्यक्त हुआ है जब वे कहते हैं कि शस्त्रस्पर्धा और विचारधारा के सैनिकीकरण से जागतिक विकास और आवागमन की गति अवरुद्ध हो गयी है और विश्वशान्ति लाने के लिए अण्वास्त्रमुक्त नयी दुनिया बनाना अनिवार्य हो जायगा। और आज रूस के गोर्बाचोव कह रहे हैं कि हमारा समाजवाद एक नयी 'मानवता' का आयाम खोजना चाहता है और वहाँ मानव का उच्च सांस्कृतिक तथा नैतिक आदर्श देखने को मिलेगा। इसलिए साफ है कि गांधीजी का बतलाया हुआ रास्ता ही विश्वशांति की तरफ जानेवाला मार्ग है। दादा के शब्दों में गांधीजी 'सर्वतोमुखी क्रांति का प्रवर्तक' सिद्ध हुए हैं।

ये सारी टिप्पणियाँ अध्येताओं की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। पत्रकारिता का एक विशेष नमूना इस लेखन में से व्यक्त हुआ है। निर्भय, ध्येयनिष्ठ, अभ्यासू पत्रकारिता की गांधीजी की परिकल्पना को दादा ने काफी हद तक चरितार्थ किया है। पत्रकारिता के लिए अत्यन्त आवश्यक ऐसी तत्त्वनिष्ठा, तटस्थता और सत्यशोधन— ये सारे गुण दादा की पत्रकारिता में से झाँक रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है। आशा है, पाठकों को, खासकर तरुण पत्रकार, अध्येता और विचारकों को इन टिप्पणियों में से काफी कुछ मिलेगा।

इन्हीं अभ्यासकों की सेवा में यह ग्रन्थ उपस्थित है।

–तारा धर्माधिकारी

सर्वोदय की प्रक्रिया

"सर्वोदय की प्रक्रिया का मध्यविन्दु हृदय-परिवर्तन है। हृदय-परिवर्तन का आरम्भ अपने से होता है। दूसरों का हृदय-परिवर्तन मेरे अपने हृदय-परिवर्तन का प्रतिफल है। सामुदायिक-संगठित प्रयत्न का महत्त्व अवश्य है, लेकिन आज हम देख रहे हैं कि सामुदायिक-संगठित प्रयत्न हो नहीं पा रहा है। दोष किसका है? हमारा, आपका, सबका। उसका निराकरण कैसे होगा? हमारे, आपके, सबके व्यक्तिगत और सम्मिलित प्रयास से। इसका आरम्भ कैसे होगा? व्यक्तिगत हृदय-परिवर्तन से। अर्थात् स्वयं अपने हृदय-परिवर्तन से। बापू के शब्दों में, आत्म-शुद्धि से। भूमि-शुद्धि, जल-शुद्धि, वस्तु-शुद्धि, वातावरण-शुद्धि आदि सभी तरह के शुद्धिकरण की आवश्यकता ब्रह्मकर्म के लिए यानी किसी भी महान् और पवित्र उपक्रम के लिए होती है। लेकिन इस सारे शुद्धिकरण का आरम्भ-स्थान आत्म-शुद्धि है। जो आत्म-शुद्धि को छोड़कर पर-शुद्धि के चक्कर में पड़ता है, वह आत्म-शुद्धि से तो वंचित हो ही जाता है और इसीलिए दूसरों के शुद्धिकरण का अधिकारी नहीं रह जाता। जिसने अपने-आप को गिनना छोड़ दिया, उसके होश ही गुल हो जाते हैं, वह अपनी आत्मा को ही खो देता है। 'दशम-न्याय' में यह एक नितान्त उपकारी संकेत है।"

-दादा धर्माधिकारी

बजाजवाड़ी, वर्धा
७-११-'४९

सम्पादकीय

सत्याग्रह के सिद्धान्त के आधार पर गांधीजी ने इस देश में अनेक प्रवृत्तियाँ चलायी हैं। ये सब मिलकर एक खासी बड़ी जीवनव्यापी संस्कृति का स्वरूप धारण करने जा रही हैं। सत्य, अहिंसा, स्वदेशी और शरीरश्रम इस संस्कृति के आधारभूत सिद्धांत हैं और उसके द्वारा समाज के सभी वर्गों का, जातियों का और व्यक्तियों का 'उदय'–अभ्युदय होनेवाला है, ऐसी उसकी श्रद्धा है। निर्भय सत्य का सिद्धान्त परम मंगलकारी–कल्याणकारी होने से, उसके आग्रह के कारण किसीका भी अहित होना असम्भव है। सत्य में सबकी भलाई करने की शक्ति भरी हुई है।

संस्कृति के मानी ही हैं जीवन की शुद्धि और समृद्धि। 'संस्कृति' हमारी भाषा का अत्यन्त व्यापक शब्द है। जीवन के किसी भी पहलू को वह नहीं छोड़ता। ऐसी जीवनव्यापी संस्कृति का एक सर्वव्यापी किन्तु निजी दर्शन भी होता है। गांधीजी ने जिसे चालना दी है उस संस्कृति के मूल में जो दर्शन है, उसकी मीमांसा, विवेचन और विकास करने के लिए 'सर्वोदय' का प्रारम्भ है।

गांधीजी को जितनी प्रवृत्तियाँ आज चल रही हैं उनके संगठन के लिए स्थापित गांधी सेवा संघ के संकेत से 'सर्वोदय' शुरू किया जा रहा है। गांधीजी की चलायी हुई सब प्रवृत्तियों का बयान इसमें आयेगा। फिर भी इसे गांधी सेवा संघ का अधिकृत 'गजट' कोई न समझे। यह तो गांधीमत, गांधी–सिद्धान्त या गांधी–प्रवृत्ति की अपनी–अपनी दृष्टि से सांगोपांग मीमांसा करनेवाले विचारकों और लेखकों का एक 'सत्संग' है। इसमें आनेवाले लेखों और विचारों की जिम्मेवारी लेखकों की ही होगी। गांधी सेवा संघ की ओर से किसी विषय पर निर्णय देने की यहाँ कल्पना नहीं है। किन्तु गांधीजी के सिद्धान्तों के प्रति जिनके मन में आस्था और आदर है, ऐसे लोग जीवन के भिन्न–भिन्न पहलुओं की तरफ किस दृष्टि से देखते हैं, उनके विषय में किस प्रकार सोचते हैं, और कैसे चलते हैं, यही यहाँ पर बताया जायगा।

'सर्वोदय' में खासकर गांधीजी के सिखाये हुए सिद्धान्तों की चर्चा और मीमांसा आयेगी। उनको अमल में लाते हुए उन सिद्धान्तों की कौन–कौन सी मर्यादाएँ रखनी पड़ती हैं, यह यहाँ पर देखा जायगा। देश–सेवा के लिए जो अनेक संस्थाएँ इस देश में कार्य कर रही हैं, उनके कार्य का परिचय कराना, उसका समाज पर क्या परिणाम हुआ, इसकी शास्त्रीय दृष्टि से जाँच करना यह भी 'सर्वोदय' का एक काम है। आज तक हुए अनेकानेक आन्दोलनों का इतिहास लिखना भी गांधी साहित्य की दृष्टि में बहुत जरूरी हो गया है। गांधीजी के सिद्धान्तों के अनुकूल देश–विदेश में जो स्वतंत्र प्रवृत्तियाँ चल रही हों, उनका भी अध्ययन हमें करना होगा। अब तो मनुष्य–जाति का भविष्य दो–चार भिन्न–भिन्न दर्शनों द्वारा ही निर्माण हो रहा है। इसलिए सर्वत्र सावधान रहकर

इन दर्शनों के मानी क्या होते हैं, हरएक की शक्ति कितनी है, हरएक में कौन-कौन-सी विकृतियाँ आ सकती हैं, और उनसे बचने के लिए कौन-कौन-से उपाय काम में लाये जा सकते हैं, आदि सारी बातों का विचार संसारभर के विचारकों को करना पड़ेगा। प्राचीन काल से सभी धर्मों के ऋषि मनुष्यजाति के आत्यन्तिक कल्याण का ही विचार करते आये हैं। परन्तु आज मनुष्य-जीवन जितना जटिल, जितना परस्परसंलग्न और अविभाज्य हो गया है उतना शायद पहले कभी नहीं था। इसलिए उन ऋषियों के उन्हीं प्राचीन सिद्धान्तों को अब ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से परख कर उनका नया संस्करण बनाना होगा। मनुष्यजाति की समस्याएँ इतनी जटिल हो गयी हैं कि आज तक के सर्वमान्य सिद्धान्तों के विषय में भी बड़े-बड़े विचारक तक सशंकित हो गये हैं। नीति, सदाचार, त्याग, प्रेम आदि सिद्धान्त केवल उपदेश के लिए हैं, दुनिया तो भौतिक सामर्थ्य के संगठन से ही चलती है— इस मत का प्रचार जोरों से हो रहा है। हर मनुष्य-समाज को अपने ही स्वार्थ का विचार करना चाहिए; जीवित रहना, दूसरों पर विजय पाना, और जो कुछ ऐश्वर्य प्राप्त हो, उसी में मशगूल रहना, इससे बढ़कर जीवन का कोई उद्देश्य ही नहीं रह गया है। समस्त मनुष्यजाति के लिए न तो कोई आशा है, न कोई उसके प्रति जिम्मेवार है, और न उसके सामने कोई भविष्य ही है। ऐसी श्रद्धा या अश्रद्धा से आज की दुनिया चल रही है। दर्शनाभाव के इस रेगिस्तान में चरित्र के बीज बोकर जीवन का नन्दनवन निर्माण करना यही आज का 'सत्पुरुषधर्म' है। इस सत्पुरुषधर्म के लिए 'सर्वोदय' प्रस्तुत हुआ है। जब तक उसको और उसके पाठकों को यह प्रवृत्ति हितकर मालूम होगी तभी तक वह इस कार्य को करेगा। यह कोई एक या दो आदमियों की प्रवृत्ति नहीं है। यह तो सहयात्रियों की 'गोष्ठी' है। यहाँ विचार-विनिमय, शंका-समाधान, सूचना-प्रकाशन, और श्रद्धा-वृद्धि के उद्देश्य से ही सेवा की जायेगी।

आज तक इस देश में अनेक दर्शन प्रचलित हुए और उनमें झगड़े भी कुछ कम नहीं हुए। यहाँ तक कि 'शास्त्रार्थ' शब्द का मतलब ही वाद-मल्लों के झगड़े हो गया है। अन्त में जाकर एक ऐसा दर्शन उत्पन्न हुआ जिसने यह कहा कि हरएक दर्शन स्वभाव से ही एकांगी होता है, इसलिए दर्शन कहलाने लायक कोई भी दर्शन सर्वथा असत्य नहीं हो सकता। जब लोग अपने अनुभव का मंडन करते हैं तब तो वे हक में होते हैं, लेकिन जब दूसरों का खंडन करते हुए उनके अनुभवों का मनमाना अर्थ निकालते हैं तो अन्याय करते हैं। सच तो यह है कि शास्त्रार्थ या बाद-विवाद सत्य की प्राप्ति का उपाय ही नहीं है। वाद-विवाद तो तभी तक उपयोगी हो सकता है, जब तक हमें अपनी बात दूसरों पर स्पष्ट करने की जरूरत जान पड़े या दूसरों की बात भलीभाँति समझने की आवश्यकता प्रतीत हो। वाद-विवाद के द्वारा दूसरों को प्रत्यय दिलाने की आशा रखना व्यर्थ है। प्रत्यय तो एकान्त में बैठकर मनन करने से या प्रत्यक्ष अनुभव से होता है। सत्य चीज ही ऐसी है कि जो सत्यपरायण व्यक्ति के सामने अपना रूप आप ही प्रकट कर देती है। इसलिए किसी भी प्रकार की बहस चलाना 'सर्वोदय' का

उद्देश्य नहीं है। हम अपनी बात कहकर सन्तोष मानेंगे। दूसरों का कहना ध्यान और आदर से समझने की कोशिश करेंगे। जहाँ हमें शंका होगी, वहाँ उसे प्रकट करेंगे। परन्तु शुरू से आखिर तक हमारी भूमिका एक 'जिज्ञासु साधक' की ही रहेगी। जो हमसे सहमत नहीं हैं वे भी 'तत्त्वजिज्ञासु' हैं। उनकी देशभक्ति किसी प्रकार कम नहीं है। उनके प्रति आदरभाव रखना हमारा धर्म है। यही नहीं वरन् सत्यप्राप्ति का यही एकमात्र मार्ग है, ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है। इसलिए जिन्हें केवल वाद-विवाद में ही दिलचस्पी है और दलबंदी करके प्रतिपक्षियों को परास्त करने की ही युयुत्सा है, वे 'सर्वोदय' को अपना क्षेत्र नहीं मानें। किसी बीमार आत्मीय की चिकित्सा करने के लिए जब चार वैद्य या डॉक्टर इकट्ठा होते हैं तो वे रोगी के हित का ही ख्याल रखते हैं न कि अपने श्रेष्ठत्व का। और फिर भी जिसको जो चिकित्सा शुद्ध और पर्याप्त मालूम पड़े उसी का वह आग्रह रखता है और फिर सिफारिश करता है। यही 'सर्वोदय' की भी निष्ठा है। यहाँ दूसरों के दर्शन या अनुभव के खंडन से मतलब नहीं है। अपनी निष्ठा, कारणों-सहित व्यक्त करने से सन्तोष है।

"एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके"

अगस्त, १९३८

●

विषय–सूची

दादा का संक्षिप्त परिचय XIII

१. अहिंसा १–२९

(१) अहिंसक युद्ध नीति का पथ्य–परहेज ३, (२) प्राध्यापक लास्की का प्रक्षोभ और सम्मोह ५, (३) 'टाइम्स' की शब्दप्रयोगपटुता ८, (४) क्या हिन्दुस्तान पिट्ठू है ? ९, (५) युद्ध की सजा से मुक्ति पाने का उपाय १४, (६) अविश्वास से शान्ति कायम नहीं हो सकती १६, (७) देवघर का पाठ १८, (८) अविलम्ब गोवधबंदी की उपयुक्तता २०, (९) गोहत्या कैसे बन्द हो ? २५, (१०) अहिंसक जबरदस्ती २६, (११) कसौटी का क्षण २८।

२. धर्म ३१–४०

(१) धर्म की प्रतिष्ठा ३३, (२) एक शिक्षाप्रद आख्यायिका ३५, (३) सम्प्रदायवाद का शिकार ३६, (४) हम चेतें ४०।

३. आर्थिक संयोजन ४१–६७

(१) भूख और क्रांति ४३, (२) सम्पत्तिदान–यज्ञ का सर्वस्पर्शी स्वरूप ४३, (३) प्रतिमूल्य की समस्या ४९, (४) दुकानदारी, मकानदारी और ईमानदारी ५१, (५) अवमूल्यन की समस्या ५४, (६) वर्ग–निराकरण की समस्या ५९, (७) विनोबा का कल्याणकारी उपक्रम ६१, (८) पंच वार्षिक योजना ६३, (९) विनोबा का बीजगणित ६४।

४. शिक्षण ६९–८२

(१) भारतीय राष्ट्र–धर्म की शिक्षा ७१, (२) विद्यार्थियों से ७२, (३) अध्यापक और राष्ट्रकारण ७४, (४) क्रांतदर्शी युवकों से ७५, (५) विवेकात्मक अनिर्णय ७८, (६) विद्या ददाति विनयम् ७९।

५. भाषा ८३–९३

(१) भाषावाद का पिशाच ८५, (२) भाषा के नये–नये कुरुक्षेत्र ८७, (३) संमिश्र प्रान्त में भाषिक सहयोग ८९, (४) भाषा के क्षेत्र में स्पर्श–भावना ९२।

६. संस्कृति ९५–११३

(१) सर्वनाशी शराब ९७, (२) सामाजिक स्वतंत्रता के विरोधक १०२, (३) पदवियाँ : अवाञ्छनीय उपक्रम १०३, (४) भेद–निदर्शक उपपद १०५, (५) शुद्ध भोजन का नया अर्थ १०७, (६) क्रीडांगण का सांस्कृतिक महत्त्व १०९, (७) मानवीय पुरुषार्थ को प्रणाम १११।

७. 'सर्वोदय' के प्रणाम ११४

संक्षिप्त परिचय

नाम : शंकर त्र्यंबक धर्माधिकारी, दादा धर्माधिकारी के नाम से सुपरिचित।

वंश : मुलतापी, जिला बेतूल (मध्य प्रदेश) के धर्माधिकारी परिवार में जन्म। सुशिक्षित एवं विद्वता से पूर्ण, विशेष तौर पर वेदान्त विद्या से भली-भाँति परिचित परिवार।

पिता : स्व० श्री टी० डी० धर्माधिकारी। प्राचीन सी० पी० एवं बरार के अतिरिक्त एवं सेशन जज। अपने सेवा-काल में न्यायप्रियता एवं स्वच्छता के लिए विख्यात। सन् १९३५ में देहावसान।

जन्म तिथि एवं जन्म स्थान : १८ जून, १८९९ को मुलतापी, जिला बेतूल, मध्य प्रदेश में।

शिक्षा : इन्दौर क्रिश्चियन कालेज इन्दौर एवं मॉरिस कालेज नागपुर से शिक्षा प्राप्त। गांधीजी द्वारा चलाये गये असहयोग आन्दोलन में कॉलेज की द्वितीय वर्ष की पढ़ाई छोड़कर आन्दोलन में सम्मिलित हुए। तब से अन्त तक किसी भी शिक्षण संस्था में प्रवेश नहीं किये। एक साल तक श्री शंकराचार्य के वेदान्तिक कृतियों का गहन अध्ययन।

विवाह : श्रीमती दमयन्तीबाई धर्माधिकारी से विवाह। श्रीमती दमयन्तीबाई ने व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन एवं १९४२ के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में भाग लिया एवं दो बार जेल-यात्रा।

रुचि : विशेष माने में कोई खास रुचि नहीं। प्रान्त की प्रमुख राष्ट्रीय शिक्षण संस्था, तिलक विद्यालय नागपुर में सन् १९३१ से १९३५ तक अध्यापन। सन् १९३५ से १९४६ तक गांधी सेवा संघ से सम्बद्ध होकर बजाजवाड़ी वर्धा में रहे। १९३८ से १९४३ तक 'सर्वोदय' हिन्दी पत्रिका का सम्पादन। १९४६-४७ में प्रादेशिक विधान-सभा और संविधान-सभा के सदस्य रहे। सर्वोदय आन्दोलन से सम्बद्ध। कालड़ी (केरल) सर्वोदय सम्मेलन के अध्यक्ष रहे। हिन्दी साप्ताहिक 'भूदान यज्ञ' के भी सम्पादक रहे।

सामाजिक कार्य : सक्रिय रूप से नवयुवकों एवं विद्यार्थियों के संगठनों एवं अन्य सामाजिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं तथा समाज-सुधार आन्दोलनों से सम्बद्ध रहे।

मध्य प्रदेश के राष्ट्रीय युवक संघ के संस्थापक भी रहे।

पद-ग्रहण : कार्यालयीय पद-ग्रहण से अनासक्ति। बाध्यतावश सन् १९३१-३२ में नागपुर प्रान्तीय कांग्रेस कमिटी के मन्त्री रहे। सर्वोदय सम्मेलन (कालड़ी) केरल के अध्यक्ष भी हुए।

पद्मभूषण या पद्मश्री आदि उपाधियों को भी स्वीकार नहीं किया। नागपुर युनिवर्सिटी की डॉक्टरेट डिग्री को भी स्वीकार नहीं किये।

राजनैतिक सिद्धान्त : गांधीजी द्वारा उपदेशित एवं प्रयुक्त जीवन-दर्शन को ही अपनाया एवं उसी ओर झुकाव रहा। सर्वोदय आन्दोलन से आजीवन सम्बद्ध रहे।

कृतियाँ : 'सर्वोदय' हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में कई लेख लिखे। कुछ भाषणों, पत्रों एवं लेखों के संकलन भी प्रकाशित हुए हैं।

विदेश यात्रा : विदेश यात्रा से सदैव दूर रहते रहे क्योंकि उनके विचार से भारत में ही सब कुछ सीखने के लिए पर्याप्त है। सन् १९६६ में भारतीय दूतावास के निमंत्रण पर नेपाल में व्याख्यान देने के लिए गये। विभिन्न स्थानों पर गये और वहाँ सर्वोदय-दर्शन पर व्याख्यान दिये। गांधी शताब्दी के अवसर पर भारतीय दूतावास के निमंत्रण पर ही १९६९ में पुनः नेपाल-यात्रा एवं गांधी-दर्शन पर विभिन्न स्थानों पर व्याख्यान।

अन्य विवरण : कांग्रेस के प्रत्येक आन्दोलन में भाग लिये एवं १९३०, १९३२ तथा १९४२ में जेल गये। दर्शनशास्त्र के अच्छे विचारक एवं वक्ता। हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती एवं अंग्रेजी आदि भाषाओं से सुपरिचित। राष्ट्रभाषा प्रचार समिति द्वारा अहमदाबाद सत्र में अपने हिन्दी साहित्य के योगदानों के लिए 'गांधी पुरस्कार' से पुरस्कृत। मानवता एवं राष्ट्रीयता के लिए सच्चे समर्पित गांधीवादी। गांधी-विचार के अध्ययन, मनन एवं प्रचार में सतत संलग्न तथा सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं में गांधी-विचार से ही समाधान के पक्षपाती रहे।

निधन : १ दिसम्बर, १९८५ को सेवाग्राम, जिला वर्धा में।

●

गांधी की दृष्टि : अगला कदम

१

अहिंसा

१. अहिंसक युद्धनीति का पथ्य-परहेज
२. प्राध्यापक लास्की का प्रक्षोभ और सम्मोह
३. टाइम्स की शब्दप्रयोगपटुता
४. क्या हिन्दुस्तान पिट्ठू है ?
५. युद्ध की सजा से मुक्ति पाने का उपाय
६. अविश्वास से शान्ति कायम नहीं हो सकती
७. देवघर का पाठ
८. अविलंब गोवधबंदी की उपयुक्तता
९. गोहत्या कैसे बंद हो ?
१०. अहिंसक जबरदस्ती
११. कसौटी का क्षण

१. अहिंसक युद्धनीति का पथ्य-परहेज

ता० ५ जनवरी, १९३९ की शाम को रानपुर (उड़ीसा) में प्रक्षुब्ध लोगों के एक झुण्ड ने, उड़ीसा के राजनैतिक एजेण्ट स्व० मेजर बाजलगेट की हत्या की, यह समाचार पाकर हरएक विवेकी देशप्रेमी के हृदय पर जबरदस्त आघात हुआ होगा। जब किसी खास जगह के लोग गुस्से में आकर इस प्रकार के अत्याचार करने पर आमादा हों तो अहिंसात्मक प्रतीकार में विश्वास रखनेवाले लोकसेवकों को अन्तर्मुख होकर विचार करना चाहिए। उड़ीसा में घटी शोचनीय घटना हमारी कमजोरी का लक्षण है। वह इस बात का सबूत है कि अभी हम किसी तरह का अनुशासन नहीं सीखे हैं। युद्ध की मर्यादा का पालन करने की आदत हमें नहीं है।

सार्वत्रिक सिद्धान्त के रूप में अहिंसा की श्रेष्ठता और उपयुक्तता का विचार 'सर्वोदय' के हर अंक में किया जाता है। इस अंक में भी उसका प्रतिपादन है। परन्तु यह टिप्पणी खासकर उन लोगों के लिए लिखी गयी है जो अहिंसा को केवल एक व्यावहारिक नीति के रूप में मानते हैं। उनकी दृष्टि से भी राजनैतिक हत्याएँ या हिंसा असमर्थनीय, असंगत और अयुक्तिक है।

युद्ध चाहे सशस्त्र हो या निःशस्त्र उसकी अपनी निश्चित मर्यादाएँ होती हैं, खास नियम होते हैं और नियत अनुशासन होता है। जो बेमौके वार कर देता है, गुस्से को सम्हालना नहीं जानता, क्षोभजनक परिस्थिति में आपे से बाहर हो जाता है, सब का नाम नहीं जानता, वह सिपाही नहीं है, आततायी, अत्याचारी, हत्यारा है। चाहे व्यवहार्य नीति की दृष्टि से ही क्यों न हो, हमने अहिंसक प्रतिकार का मार्ग पसन्द किया है। जब तक हम उसे निकम्मा समझकर छोड़ नहीं देते तब तक उसकी मर्यादाओं का पालन हमें सावधानी से और ईमानदारी से करना चाहिए। किसी चीज को आजमाना हो तो आधे दिल से आजमाने से कोई नतीजा नहीं निकलता। प्रयोग की सफलता की यह अनिवार्य शर्त है कि वह एकनिष्ठा और हार्दिकता से तथा बुद्धिमानी और सावधानी से किया जाय।

कुछ लोग कहते हैं, "हमने अहिंसा को धर्म थोड़े ही मान लिया है। हमारी आज की निःशस्त्र स्थिति में हमारे लिए वही एक सहज-साध्य और उपयुक्त नीति है, इसलिए हमने उसे अखत्यार किया है। खालिस और कोरी अहिंसा कहाँ तक कामयाब होगी इसके विषय में हमें सन्देह है। भारतवर्ष की राष्ट्रीय जागृति और उन्नति तो हिंसा-अहिंसा के द्विविध आन्दोलन से हुई है। एकमुखी अहिंसक प्रतिकार से नहीं। इसलिए जब कभी-कभी ऐसी हत्याएँ हो जाती हैं तो अत्याचारी सत्ताधारियों के दिल में दहशत पैदा हो जाती है। यह उसका एक बड़ा अच्छा परिणाम है। शस्त्र का स्पर्श होते ही सचैल स्नान करनेवाली अपरसी अहिंसा को दूर ही से नमस्कार है। ऐसी अहिंसा जैनियों के मठों

को मुबारक हो, राजनैतिक और आर्थिक रणक्षेत्र में उसका काम नहीं है।"

कुछ दूसरे ऐसे भी हैं जो राष्ट्रीय नीति के रूप में तो निःशस्त्र प्रतिकार के ही पक्षपाती हैं। लेकिन सशस्त्र प्रतिकार या हत्या करनेवालों को अधिक बहादुर और निडर समझ कर वे उनकी अधिक इज्जत करते हैं। वे कहते हैं कि "जो हमसे नहीं बनता वह कर दिखाने की इनकी सामर्थ्य और हिम्मत है। ये देशभक्तों के सरताज हैं। हमारा साधन उपयुक्त है इनका उत्कृष्ट है। सबका ध्येय तो एक ही है। अपनी-अपनी कूवत के मुताबिक जिसे जो साधन सुसाध्य हो वह उसे स्वीकार करे। इसमें विरोध, निन्दा और निषेध की गुंजाइश ही कहाँ है ?"

जो इस तरह तर्क करते हैं वे युद्धनीति के नियम या तो जानते नहीं हैं, या भूल गये हैं। उनके साधन-सम्बन्धी विचारों में उलझन या खल्तमल्त है। उनका यह ख्याल है कि एक ही साध्य के कई साधन हो सकते हैं। और उनका सहअनुष्ठान (एकसाथ अमल) भी हो सकता है। लोकमान्य तिलक ने एक बार हिंदूधर्म की व्याख्या करते हुए उसका एक लक्षण "साधनानामनेकता" भी बताया था। कुछ लोग उसी सिद्धान्त को राजनैतिक क्षेत्र पर भी लागू करना चाहते हैं। लेकिन "साधनानामनेकता" का अर्थ "साधनानामनिश्चितता" नहीं है। किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के चाहे कितने ही साधन क्यों न हों, हमें अपनी शक्ति, परिस्थिति और अधिकार के अनुसार उनमें से किसी एक को पसन्द कर लेना पड़ता है, और अविचलित निष्ठा से उसका अनुष्ठान करना होता है। "एक वक्त एक ही चीज को लो और उसे अच्छी तरह करो" यह नियम साधनों के विषय में भी सही है। जब कुछ लोग एक ही ध्येय की प्राप्ति के लिए परस्परविरोधी साधनों के सह-अनुष्ठान का समर्थन करते हैं तब तो हमें उनके अविवेक और अव्यवहार्यता पर ताज्जुब होता है।

आज हमारे राष्ट्र ने— केवल अपनी मौजूदा हालत और कूवत के ख्याल से ही क्यों न हो— निःशस्त्र प्रतिकार के प्रयोग का निश्चय किया है। अपने फायदे के लिए तात्कालिक नीति के रूप में भी जब हम कोई रास्ता या तजबीज पसन्द करते हैं तो बुद्धिमानी इसी में है कि हम अपनी सारी ताकत, सारी बुद्धि और सारी बहादुरी उसे कामयाब करने में लगा दें। सवाल यह नहीं है कि कौन-सा रास्ता ज्यादा बहादुरी का या सुहावना है। सवाल यह है कि अपनी शक्ति और साधना देखते हुए हमने कौन-सा रास्ता अपने लिए पसन्द किया है और ठीक समझा है। जब हमने अपने मुकाम पर पहुँचने के लिए एक खास रास्ता ले लिया है, सोच-विचार कर ले लिया है, तब हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम अपने फायदे के लिए, और जल्दी से जल्दी मंजिल तय करने के लिए, उसी पर अडिग रहें और उसे ईमानदारी से आजमायें। जो उसके खिलाफ रास्ता लें उनको समझावें-बुझावें और उनके रास्ते के विषय में अपनी अरुचि और निषेध प्रकट करें।

थोड़ी देर के लिए सिद्धान्त की बात जाने दीजिये। मामूली समयज्ञता, दूरन्देशी

और व्यवहारकुशलता की ही बात लीजिये। युद्धनीति की ही बात ले लीजिये। जिस समय जिस आयुध का और जिस पद्धति से प्रयोग करना तय हुआ हो, क्या उसके विरुद्ध काम करना घोर अनुशासनभंग और स्वपक्षद्रोह नहीं माना जायगा ? कभी-कभी सामुदायिक कार्य के लिए व्यक्तिगत वीरता भी घातक सिद्ध होती है। हमारे सामने राष्ट्रीय सामुदायिक नीति का सवाल है।

और फिर मेजर बाजलगेट की हत्या में तो वीरता भी नहीं है। वह तो विकारवश समूह का अनियन्त्रित हिंसाचार है। न उसमें पूर्वयोजना है,, न व्यवस्था है और न अनुशासन। विकारवश और उन्मत्त लोकसमुदाय का वह निर्घृण अत्याचार है। दबी हुई हिंसा का नाम संयम नहीं है। लाचारी के कारण जो लोग प्रतिकार नहीं करते वे अहिंसक नहीं होते। उनकी कोई नीति या योजना नहीं होती। वे तो विकारवश होकर मनमाना आचरण करते हैं। कायरता से हिंसा श्रेष्ठ भले ही हो, परन्तु विकारवशता से उत्पन्न अनियंत्रित हिंसाचरण से कोई भी समाज बहादुर नहीं होता। लोगों की विशेष परिस्थिति में उनकी शक्ति और साधनों के अनुकूल प्रतिकार का जो तरीका हो उसी की शिक्षा उन्हें देनी चाहिए और उसकी स्पष्ट मर्यादाओं की उन्हें पग-पग पर याद दिलानी चाहिए। सुव्यवस्थित और सफल युद्धनीति का यही नियम है। सामुदायिक सत्याग्रह के नेताओं को और संचालकों को ऐसे मौकों से साधननिष्ठा की नसीहत लेनी चाहिए। केवल धिक्कार कर देने से हमारी योग्यता नहीं बढ़ेगी।

साध्यसाधन के सापेक्ष महत्त्व का विवेचन अन्यत्र किया गया है। अहिंसा-धर्म (क्रीड) और अहिंसा-नीति (पॉलिसी) के सूक्ष्म भेदों की व्याख्या करने का यहाँ हमारा विचार नहीं है। लेकिन विचारपूर्वक हम जिस नीति का अंगीकार करते हैं उसकी स्पष्ट मर्यादाओं और पथ्य की तरफ संकेत करना हरएक लोकसेवक का काम है। यहाँ वही करने की कोशिश की गयी है।

९-१-'३९

२. प्राध्यापक लास्की का प्रक्षोभ और सम्मोह

प्राध्यापक हेरॉल्ड लास्की इंग्लैंड के एक सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित विचार-नेता माने जाते हैं। आप विश्वशान्ति और प्रजातंत्र के जबरदसत पक्षपाती और प्रवक्ता हैं। लेकिन हिटलर के आक्रमण के कारण आपकी शान्तिवादी आत्मा भी प्रक्षुब्ध हो उठी और आप भी कहने लगे कि "हिटलर की मरम्मत करने के लिए दुनिया के सारे भले आदमियों को इंग्लैंड और रूस की मदद करनी चाहिए। हिटलर का प्रतीकार शान्तिमय उपायों से नहीं किया जा सकता। अगर कहीं हिटलर जीता, तो दुनिया से प्रजातंत्र और नागरिक

स्वाधीनता सदा के लिए उठ जायेंगे। इसलिए मूलभूत नागरिक अधिकारों के हिमायतियों और प्रजातन्त्र के पक्षपातियों को हिटलर के दाँत खट्टे करने में अपनी सारी ताकत लगा देनी चाहिए।"

केवल बुद्धिनिष्ठ दर्शन की अपूर्णता

जब कोई बहुत बड़ा संकट आ पड़ता है, तब मनुष्य का चित्त क्षुब्ध हो जाता है और उसका विवेक भी जवाब देने लगता है। ऐसे समय उसकी जो केवल बौद्धिक निष्ठा होती है, वह भी टिक नहीं सकती। उसकी स्वाभाविक दुर्बलताएँ और स्वाभाविक विकार एकाएक जागृत हो उठते हैं। संसार के तीन सुप्रसिद्ध और श्रद्धेय शान्तिवादियों के साथ ऐसा ही हुआ है। श्री बर्ट्रेण्ड रसेल, सी० ई० एम० जोड और प्राध्यापक लास्की की शान्तिवाद में निष्ठा केवल एक बौद्धिक सिद्धान्त था, जिसका प्रतिपादन, निरूपण और विवेचन वे बड़ी योग्यता और आवेश से किया करते थे। लेकिन उनके विश्वास के पीछे अनुभव-जनित प्रत्यय नहीं था, प्रयोग-सिद्ध निष्ठा नहीं थी। इसीलिए हिंसा के बवंडर का झकोरा आते ही उनका शान्तिवाद हतबुद्धि और हतवीर्य हो गया है। केवल बौद्धिक मतवाद की अपूर्णता का यह एक और उदाहरण है।

'बलं वाव विज्ञानाद् भूयः'

इससे तात्पर्य यह निकलता है कि केवल बुद्धिबल पर्याप्त नहीं है। केवल बुद्धिनिष्ठ शान्तिवादी दूसरे किसी बल में अभ्यस्त नहीं होता। इसलिए जब बुद्धिबल कुंठित हो जाता है, तो वह किंकर्तव्यमूढ़ होकर या तो आत्मसमर्पण कर देता है या फिर परम्परागत शरीरबल का समर्थन और आश्रय करता है। इसी शुष्क और थोथे बौद्धिक दर्शन के बारे में उपनिषदों ने कहा है :

बलं वाव विज्ञानाद् भूयः। अपि शतं
विज्ञानवतां एकः बलवान् आकम्पयते।

(विज्ञान से बल श्रेष्ठ है। सौ विज्ञानवंतों को एक बलवान परास्त कर सकता है।) हिटलर ने यूरोप के दार्शनिकों और पंडितों के विषय में इस कथन को चरितार्थ कर दिखाया है।

शस्त्रबल की विषमता

लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अगर विज्ञान या केवल बुद्धिवाद अपूर्ण और अशक्त है, तो शस्त्रवाद या युद्धवाद बिलकुल ही विषम है। यह परिपाटी बहुत पुरानी है कि जब मनुष्य समझा-बुझा कर थक जाता है, तब वह डंडे से बातें करने लगता है। देहाती शिक्षक का अन्तिम साधन बेंत है और बुद्धिवादी की अन्तिम दलील है डंडा या तलवार। लेकिन किसी के सिर में ऊपर से घाव कर देने से उसकी बुद्धि का दरवाजा नहीं खुल जाता। मनुष्य की बुद्धिनिष्ठा का विनाशक शरीरबल ही है। वह

शरीरबल की सत्ता ही कायम करता है और उसे चिरस्थायी बनाने में सहायक होता है।

विधानवाद की व्यर्थता

वैधानिक आन्दोलन द्वारा क्रांति की तो अब कोई बात भी करने की हिम्मत नहीं करता। जब तक भूखी और अज्ञ जनता अपनी 'वोट' लालच से बचने को, डर से दे देने को, या मुरव्वत और लिहाज से खैरात कर देने को तैयार है, तब तक पार्लमेंटरी प्रक्रिया से क्रान्ति की आशा करना मृगतृष्णिका का पीछा करने के बराबर है। प्राध्यापक लास्की और दूसरे बुद्धिनिष्ठ शान्तिवादियों को इसका अनुभवजन्य ज्ञान है। इसीलिए वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि विधानवाद बेकार है।

कुंठित बुद्धिवाद का परिणाम

परन्तु उनकी बुद्धि बधिर या कुंठित हो जाने के कारण वे किसी दूसरे बल की कल्पना भी नहीं कर सकते और इसलिए लौट कर फिर उसी परंपरा-प्राप्त शस्त्र-प्रयोग के मार्ग का नये आवेश और उत्कटता से प्रतिपादन करने लगे हैं।

श्रेष्ठतर साधन की आवश्यकता

संसार के सद्भाग्य से आज एक ऐसा व्यक्ति जीवित है, जिसकी बुद्धि अब तक साबित है और हिंसा का यह प्रचण्ड झंझावात भी जिसकी अनुभवजनित शान्ति-निष्ठा को विकम्पित नहीं कर सका है। उसने यह भलीभाँति जाँच लिया है और अनुभव किया है कि जहाँ पार्लमेण्टवाद या विधानवाद असफल प्रमाणित हुआ है और बुद्धिवाद या समझा-बुझा कर मत-परिवर्तन का प्रयत्न अपूर्ण साबित हुआ है, वहाँ शस्त्रबल या मार-मार कर सिद्धान्त गले उतारने की कोशिश तो सर्वथा विपरीत और विषम सिद्ध हो चुकी है। इसलिए अब किसी ऐसे बल की आवश्यकता है, जिसमें न तो शस्त्रबल की विषमता होगी, न बुद्धिबल की अपूर्णता और न विधानवाद की लाचारी। हृदय-परिवर्तन का कोई अधिक निर्दोष और सक्षम साधन संसार की सबसे प्रधान तात्कालिक आवश्यकता है। वह साधन है सत्याग्रह या अहिंसक प्रतीकार की पद्धति। इस साधन का आधार आत्मबल है। इसलिए उसमें न तो शस्त्र की विषमता है, न शास्त्र की अपूर्णता और न विधानवाद की अक्षमता। बुद्धिबल की अपूर्णता का पूरक आत्मबल ही है। इसलिए सत्याग्रह--नीति का प्रवर्तक और प्रयोगी विनययुक्त आत्मविश्वास से कह सकता है, 'मैं विध्वंस करने नहीं आया हूँ, मैं तो त्रुटिपूर्ति के लिए आया हूँ।'

प्राध्यापक लास्की के लिए अपने बुद्धिवाद और शान्ति-निष्ठा की रक्षा के लिए इस नये अमोघ आयुध से बहुत धैर्य और हिम्मत मिल सकती है। लेकिन इस वक्त तो बुद्धिवादियों के होश ही हवा हो गये हैं।

२१-९-'४१

३. 'टाइम्स' की शब्दप्रयोगपटुता

शब्द-पाण्डित्य और भाषा-पटुता का तो इंग्लैंड का 'टाइम्स' पत्र बड़ा जबरदस्त माहिर है। अब की बार वह लिखता है।

"अब तो कई दिनों से यह मानी हुई बात है कि हिन्दुस्तान अकेला अपनी पगड़ी नहीं सँभाल सकता। इस लड़ाई ने हमें यह एक नया सबक सिखाया है कि कोई भी राष्ट्र अपने बल नहीं खड़ा हो सकता। प्रत्येक राष्ट्र के अपनी मर्जी के अनुसार चलने के आत्यन्तिक अधिकार से ही तो हमारी लड़ाई जारी है। हम जानते हैं कि भारत का मत हमारे पक्ष में है। संसार के नये आर्थिक संगठन की नींव हमें राष्ट्रों के सहयोगात्मक परस्परावलम्बन के सिद्धांत पर डालनी होगी। बाहुबल के बन्धन का रूपान्तर सम्मति के बल में करना उस उद्देश्य की दिशा में तरक्की का लक्षण है, लेकिन उस बन्धन को बिलकुल नष्ट कर देना प्रतिगामित्व है।"

'सर्चलाइट' २१-९-'४१

इसका सरल अर्थ

'टाइम्स' की भाषा बड़ी सूचक और दिलचस्प है। वह ध्वनित यह करना चाहता है कि 'अपने भाग्य का निर्णय करने की हिन्दुस्तान की माँग बिलकुल अनुचित और तर्कविरोधी है। अब आत्मनिर्भरता के दिन लद चुके, अब तो परस्पर-निर्भरता का युग आ गया है, अब स्वावलम्बन का जमाना नहीं रहा, सर्वावलम्बन के दिन आ रहे हैं। इसलिए ऐ हिन्दुस्तानियो, तुम्हारे भविष्य का निर्णय करने का हक आन्तर्राष्ट्रीय नवनीति के अनुसार हमें भी हासिल है। अब तुम्हारी अलग खिचड़ी नहीं पक सकती है।

'टाइम्स' से प्रश्न

हम बड़ी खुशी से इस उसूल को तसलीम करते हैं। मगर जानना इतना ही चाहते हैं कि क्या 'टाइम्स' अपने भाग्य का विधान करने का अधिकार जर्मनी और इटली और जापान को भी देने को राजी है ? अगर नहीं, तो क्यों नहीं ? आन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का सिद्धांत क्या उनके लिए नहीं है ?

उत्तर का प्रत्युत्तर

कहा जायगा कि वे तो आन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और दायित्व के सिद्धांत की जड़ें ही खोद रहे हैं; तब उन्हें यह अधिकार कैसे दिया जा सकता है ?

यही तो हिन्दुस्तान कहता है। हमारे लिए तो अपना अनुभव ही मार्गदर्शक हो सकता है ? आन्तर्राष्ट्रीय दायित्व और सहयोग के कौन-से नियम इंग्लैण्ड ने भारत के साथ अपने व्यवहार में निबाहे हैं ? हमें परस्परावलम्बन का सिद्धान्त मंजूर है, लेकिन

इंग्लैंड-निर्भरता गुलामी का ही दूसरा नाम है।

हमारा भी दायित्व मानो

इस अर्थ में इंग्लैंड हिन्दुस्तान के प्रति अपनी जिम्मेवारी महसूस करता है, उस अर्थ में हिन्दुस्तान भी अपनी जिम्मेवारी इंग्लैंड के प्रति महसूस करता है। इंग्लैंड अगर भारत को विदेशी आक्रमण और भीतरी कलह से बचाना चाहता है, तो हम भी इंग्लैण्ड को साम्राज्यवाद के जीर्णज्वर और नाजीवाद के सन्निपात के संसर्ग से बचना चाहते हैं। भारत का आत्मनिर्णय और स्वाधीनता ही इन मर्जों की रामबाण दवा है।

२१-९-'४१

४. क्या हिन्दुस्तान पिट्ठू है ?

केन्द्रीय धारासभा में **अर्थबिल** दो बार अस्वीकार कर दिया गया। परन्तु इसका यह मतलब हरगिज नहीं है कि वह अमल में नहीं आयेगा। वाइसराय साहब उसे अपने विशेष अधिकारों के बल पर मंजूरी दे सकते हैं।

जब यह **अर्थबिल** पेश हुआ, तो केन्द्रीय धारासभा के कांग्रेसी सदस्य भी वहाँ जा पहुँचे और उन्होंने संसार को यह बतला दिया कि हिन्दुस्तान का क्या रुख है। कहा गया कि ये कांग्रेसवाले असेंबली में केवल गला फाड़-फाड़ कर बोलने के लिए और महज एक प्रदर्शन करने के लिए आये हैं; वस्तुस्थिति का विचार करने की न तो इनकी आदत है, न इच्छा।

जवाब में क्या हम यह पूछ सकते हैं कि यह अर्थबिल आखिर असेंबली में उपस्थित ही क्यों किया गया ? केवल इसीलिए न कि सरकार संसार पर यह प्रकट करना चाहती थी कि हिन्दुस्तान की लोक-सभा (?) भी हमारे साथ है, क्या यह प्रदर्शन ही नहीं था ? यह प्रदर्शन असफल हुआ इसलिए कांग्रेसवालों का कोसना खिलाड़ीपन का लक्षण नहीं है ?

असेंबली के निर्णय के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि सरकार को हमारे सहयोग या सहानुभूति की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उसे तो पैसों और रंगरूटों से मतलब है, इसीलिए इस देश की जनता के प्रतिनिधियों की राय लेना जरूरी नहीं समझा।

हिन्दुस्तानी खेलों में जब खिलाड़ियों की संख्या विषम हो, तो जिस तरफ कम खिलाड़ी होते हैं, उन्हें एक पिट्ठू ले लेने का अधिकार दे दिया जाता है। उस दल का नेता पिट्ठू की बारी पर खुद खेलता है। पिट्ठू से पूछने की कोई जरूरत नहीं होती। इसी तरह सरकार ने भी हिन्दुस्तान को अपना पिट्ठू ही समझ लिया था। इसीलिए उसने

हिन्दुस्तान की राय लेने की कोई जरूरत महसूस नहीं की। असेंबली के निर्णय ने संसार पर यह प्रकट कर दिया कि हिन्दुस्तान न तो पिट्ठू बन कर रहने को तैयार है, न 'डमी पार्टनर' (गूँगा साथी)।

मुँह में रामनाम और……'

संसार के सभी लोकमान्य ग्रन्थों की किस्मत में यह लिखा हुआ होता है कि जिसका जी चाहे, वह उनके मनमाने अर्थ निकाले और अपना उल्लू सीधा कर ले। भारत के आतंकवादी नवयुवक भी अपने कृत्यों के समर्थन में भगवद्गीता का प्रमाण देते थे। 'तीनों लोकों की हत्या करनेवाला भी न तो हत्या करता है, न बद्ध होता है,' इस आश्वासन का आधार लेकर कत्ले-आम करनेवाला भी अपने कृत्य का समर्थन कर सकता है। असेंबली में भी गीताजी का हवाला दिया गया! कल हिटलर भी देने लगे, तो ताज्जुब नहीं! गीता सभी की है। अगर उसकी पूजा करने का अधिकार सबको है, तो दुरुपयोग करने का भी अधिकार होना चाहिए। इस जमाने में गीता का प्रचार एक अनोखे ढंग से हो रहा है। नाजीवाद के मुँह में अगर स्वत्व और शक्ति तथा हाथ में पिस्तौल है, तो साम्यवाद के भी 'मुँह में रामनाम और बगल में छुरी' है।

एक मजेदार दृष्टान्त

सरकारी पक्ष के एक सदस्य ने अपने रोचक भाषण में यह कहा, 'जब कि घर में डाकू घुसे हुए हैं, ऐसे मौके पर पुलिस की मदद करने के बदले ये कांग्रेसवाले कहते हैं कि पहले दंड विधान में संशोधन करो, तब हम सहायता देंगे।'

श्री आसफअली ने इसका बड़ा माकूल जवाब दिया। यहाँ दण्ड विधान में संशोधन की बेतुकी बात कोई नहीं कहता। हम तो सिर्फ इस बात का निश्चय कर लेना चाहते हैं कि यह पुलिसवाला दरअसल पुलिसवाला ही है या कोई छली है। उसकी बगल में भी चोरी के माल की पोटली है। हमारा निवेदन इतना ही है कि भाई, पहले उसे उसके मालिक को सौंप दे, तब इन डाकुओं से हम-तुम निपट लेंगे।

श्री आसफअली के शब्द ये नहीं थे, मगर उनका आशय यही था। अगर हिटलरवाद दूसरों के घरों में सेंध लगाता फिर रहा है, तो साम्राज्यवाद की बगल में भी लूट के माल की पोटली है।

असली और नकली प्रजातंत्र

बड़े लाटसाहब ने अपने अधिकारों के जोर पर अर्थबिल मंजूर करके फिर एक बार संसार पर यह प्रकट कर दिया है कि हिन्दुस्तान में किस तरह का प्रजातंत्र है। वेल्टन और मौनहैम की 'लॉजिक' (तर्कशास्त्र) की पुस्तक में एक बड़ा दिलचस्प किस्सा है :-

एक सज्जन के बावर्ची ने उनके लिए एक सारस पक्षी पकाया। सुनते हैं कि सारस पक्षी की टाँग लोगों को बड़ी पसंद आती है। बावर्ची की प्रेयसी ने उससे उस पक्षी की

टाँग माँगी। उसके हजार समझाने पर भी वह न मानी। तब लाचार होकर बेचारे ने उसे एक टाँग काट कर दे दी। मालिक ने भोजन के वक्त पूछा, 'इसकी एक टाँग कहाँ गायब हो गयी ?' बावर्ची ने बेधड़क कह दिया, 'हुजूर, सारस के तो एक ही टाँग होती है। मालिक चुप रह गया। दूसरे दिन वह बावर्ची को लेकर तालाब के किनारे गया। वहाँ बहुत-से सारस तपस्वियों की तरह एक टाँग पर खड़े थे। नौकर बड़ी खुशी से चिल्लाया, "देखिये हुजूर, सभी सारसों के एक ही टाँग है।" मालिक ने ताली बजायी, तो सारस दूसरी टाँग टेककर उड़ गये, मालिक ने पूछा, 'अब, जनाब ?' तुरन्त जवाब मिला, 'हुजूर ने मेज पर तश्तरी में सोये हुए सारस के लिए ताली कहाँ बजायी थी ?'

तालाबवाले और रिकाबीवाले सारस में जो फर्क था, वही ब्रिटिश पार्लमेंट और हिन्दुस्तान की धारासभाओं में है। वहाँ तो पार्लमेंट सब कुछ कर सकती है। वह सिर्फ 'पुरुष का स्त्री और स्त्री का पुरुष नहीं बना सकती'। अर्थात् वह सर्वोपरि है, केवल प्राकृतिक नियमों से ही मर्यादित है। और यहाँ जो जनता के प्रतिनिधि हैं, कौसिलों में जिनका बहुमत है, जो कानून से आज भी प्रधानमन्त्री और उप-मंत्री रह सकते हैं, यानी प्रजातन्त्र के नियमों के अनुसार जो यहाँ के यथार्थ शासक हैं, वे एक के बाद एक जेल में ठूंसे जा रहे हैं। एक वह प्रजातन्त्र है, एक यह है। बावर्ची कहता है, सिर्फ ताली बजाने से यह निर्जीव प्रजातन्त्र भी वही सामर्थ्य दिखा सकेगा।

विवाद का मुद्दा

हिन्दुस्तान की तरफ से यह कई बार घोषित किया जा चुका है कि हम न तो हिटलरवाद की विजय चाहते हैं, न स्टैलिनवाद की। हम नहीं चाहते कि इंग्लैंड हारे या जर्मनी तबाह हो। हम यह भी नहीं चाहते कि हिटलर मारा जाय। परन्तु हम हिटलरवाद और तत्सम दूसरे सारे वादों का अन्त अवश्य चाहते हैं। और वह भी शीघ्र से शीघ्र। साम्राज्यवाद का समावेश उसी श्रेणी में होता है।

सवाल यह है कि जिस राष्ट्र ने सोच-समझकर अपनी स्वाधीनता के लिए भी सशस्त्र प्रतीकार को वर्ज्य माना है, जो अपनी जान बचाने के लिए या छुड़ाने के लिए भी हथियार नहीं उठाना चाहता, उसकी नीति क्या हो सकती है ? जिस राष्ट्र का यह विश्वास है कि शस्त्रास्त्रों से कभी शान्ति, न्याय और प्रजातन्त्र की स्थापना हो ही नहीं सकती, उसके लिए सशस्त्र युद्ध कभी 'धर्म-युद्ध' कैसे हो सकता है ?

२९-११-'४०

युद्धोत्तर भारत

मौजूदा लड़ाई के बाद हिन्दुस्तान के भाग्य का निर्णय क्या होगा, इसके विषय में देश के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ कयास कर रहे हैं। किसी की यह अटकल है कि अगर इंग्लैंड हार जायगा, तो हम अपने-आप स्व..त्र हो जायेंगे। इसलिए वे इंग्लैंड की हार

मनाते हैं। दूसरे कुछ लोगों का यह अंदाज है कि अगर हमारी मदद की बदौलत इंग्लैंड जीत जाय, तो वह हमें भूयसी दक्षिणा के रूप में स्वराज्य दे देगा।

हमारी नाकिस राय में उक्त दोनों अनुमान अशुद्ध हैं। हमारा यह अटल विश्वास है कि कोई देश कभी अनायास स्वतन्त्र नहीं हो सकता। यदृच्छाप्राप्त स्वतन्त्रता एक अभावरूप स्थिति है, जो स्थगित जीवन का ही एक पर्याय है।

एक मिशाल मशहूर है। जामुन के पेड़ के नीचे एक आदमी मुँह बाकर गहरी नींद में खर्राटे ले रहा था। संयोग से एक जामुन उसके मुँह में टपक पड़ा। अब हजरत रोज जा कर जामुन के पेड़ के नीचे सोने लगे। लेकिन दुबारा जामुन मुँह में नहीं टपका। नौबत तो आयी थी दूसरी ही कोई चीज के मुँह में टपकने की।

तात्पर्य स्पष्ट है। स्वतन्त्रता अपने पुरुषार्थ से स्थापित करनी होती है। वह यदृच्छा से प्राप्त होनेवाली आकस्मिक स्थिति नहीं है।

'माडर्न रिव्यू' के सुजान सम्पादक ने इस सम्बन्ध में एक विचारप्रवर्तक टिप्पणी लिखी है, उसका आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।

"लड़ाई के बाद यूरोप की तरफ ब्रितानिया का रुख क्या रहेगा, इसके बारे में हम उदासीन तो नहीं है। परन्तु युद्ध के समाप्त होने पर भारत के प्रति ब्रिटेन का क्या रुख रहेगा, इसके विषय में हमें खास दिलचस्पी है।

"हिन्दुस्तान के कुछ राजनैतिक दलों ने यह माँग की है— हाँ, उन्हें माँग शब्द ही सुहाता है— कि विजय के बाद एक या दो वर्ष के भीतर ही हिन्दुस्तान को वेस्टमिंस्टर स्टैट्यूट की शक्ल का औपनिवेशिक रुतबा देने का अभिवचन ब्रिटानिया आज ही दे। हमारा अनुमान यह है कि जब तक ब्रिटेन पर कोई परिणामकारक दबाव नहीं डाला जायगा, तब तक वह इस तरह का कोई कार्यक्षम अभिवचन नहीं देगा। कार्यक्षम अभिवचन से अभिप्राय ऐसे अभिवचन का है, जिसे पूरा करने के लिए ब्रिटिश पार्लामेंट बाध्य रहेगी। ऐसा अभिवचन तो केवल पार्लामेंट के प्रस्ताव द्वारा या उसके मुकाबले की दूसरी कोई चीज हो सकती हो तो उसके द्वारा ही दिया जा सकता है। परिणामकारक दबाव से हमारा अभिप्राय किसी प्रकार के हिंसात्मक प्रतीकार से नहीं है परन्तु परिणामकारक अहिंसक दबाव न तो अकल्पनीय है, न अविचारणीय और न अव्यवहार्य ही है।

"ब्रिटेन हिन्दुस्तान को कैनडा या ऑस्ट्रेलिया की किस्म का शासन-विधान देने को राजी नहीं होगा, ऐसा अनुमान करने के कारणों की कल्पना सहज हो सकती है।

"जिन्होंने सत्ता और उसके फलों का आस्वाद दीर्घकाल तक लिया होता है, वे उसे स्वेच्छा से या सहज नहीं छोड़ते। यह मनुष्य-स्वभाव नहीं है। लेकिन ब्रिटेन केवल इस सर्वमान्य कारण से ही सत्ता का त्याग करने से इनकार नहीं करेगा। दूसरा भी एक विशेष कारण है।

'ब्रिटेन अपने बचाव और अपने दुश्मन या दुश्मानों को चारों खाने चित्त करने

के लिए अरबों खर्च कर रहा है। अगर ये अजस्र रकमें उसके अपने खजाने में से आयी होतीं, तो भी लड़ाई के खतम होने पर उसे क्षति-पूर्ति की फिक्र होना अस्वाभाविक नहीं होता। परन्तु ये रकमें तो अंशतः सार्वजनिक ऋण के रूप में आती हैं। ब्रिटिश लोगों से उनकी सरकार को जो कर्ज मिलता है, वह मय ब्याज के चुकाना पड़ेगा। ये रकमें दान में दी हुई मानी जायें, तो भी उन्हें देनेवाले अपने-आप को धनहीन मानेंगे और फिर से धनवान बनना चाहेंगे। संयुक्त राज्य अमेरिका से जो कर्ज लिया गया है, वह भी अदा करना होगा। और जो युद्ध सामग्री, शस्त्रास्त्र, जहाज, हवाई जहाज इतनी जबरदस्त तादाद में उधार लिये गये हैं, उनके भी दाम चुकाने होंगे।

"मतलब यह कि युद्ध के बाद किसी-न-किसी कारणवश ग्रेट ब्रिटेन और उसके निवासियों को आम तौर पर असाधारण बड़ी आमदनियों की जरूरत होगी। ग्रेट ब्रिटेन अपने में एक छोटा-सा देश है। उसके नैसर्गिक उत्पादन के साधन प्रचुर कभी नहीं थे। उनका भी खासा विकास और उपयोग हो चुका है। इसलिए ग्रेट ब्रिटेन के लोगों और सरकार को ब्रिटिश साम्राज्य से संपत्ति कमानी पड़ेगी। इस साम्राज्य के उस अंश का, जो ब्रिटिश राष्ट्रसंघ कहलाता है, शोषण नहीं किया जा सकता। क्योंकि उपनिवेश स्वयंशसित हैं और शोषण के प्रयत्न का सफल प्रतीकार कर सकते हैं। भारत ऐसे करोड़ों संयमी और मेहनती स्त्री-पुरुषों से आबाद है, जिनके परिश्रम से थोड़ी-सी रोजी देकर भी बहुत बड़ा लाभ उठाया जा सकता है। ऐसी उत्कृष्ट शोषण-सुलभ मानव-सामग्री के अतिरिक्त हिन्दुस्तान में पुष्कल खनिज, वन्य और प्राणिज सम्पत्ति है, जो अब तक खाली पड़ी है। दूसरे भी कई नैसर्गिक शक्ति के स्रोत अविकसित अवस्था में पड़े हुए हैं।

"अतः हमारा अनुमान यह है कि युद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूँजीपति और उद्योगपति हिन्दुस्तान के उत्कट और व्यापक शोषण का उपक्रम करेंगे। इस शोषण-समारम्भ को अनिरुद्ध गति से चलाने के उद्देश्य से हिन्दुस्तानियों को उसमें बाधा न पहुँचाने की दृष्टि से आज के जितना ही असमर्थ रखा जायगा। अर्थात् हिन्दुस्तानियों को कोई वास्तविक सत्ता नहीं सौंपी जायगी। शासन-सुधार और प्रान्तिक स्वायत्तता के नाम पर १९३५ के विधान ने जिस प्रकार प्रान्तवाद और जातिवाद उत्तेजित करके भारतवासियों को और भी कमजोर कर दिया है और उस कानून के अन्तर्गत हित-विवेक के अध्याय ने ब्रिटिश शोषण के लिए सुविधा कर दी है, उसी प्रकार लड़ाई के बाद भी कुछ शासन-सुधार अलबत्ता दे दिये जायेंगे, जिनका बाह्य स्वरूप तो सुधार का होगा, किन्तु जो राष्ट्र को और भी कमजोर बना देंगे। युद्ध के बाद ऐसे नये कानून भी जारी किये जायँगे जो स्वतन्त्रता की लड़ाई चलाना आज की अपेक्षा अधिक दुर्घट बना देंगे।

"इसलिए हमारी राय में हिन्दुस्तानियों को समय रहते औद्योगिक क्षेत्र पर जितना हो सके उतना कब्जा कर लेना चाहिए और स्वाधीनता के अहिंसक संग्राम के वर्तमान सुयोगों से अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए।

१५-२-'४१

५. युद्ध की सजा से मुक्ति पाने का उपाय

मानवता को युद्ध की सजा

उस दिन संसार के एक महान् राज्यपुरुष ने कहा कि 'दैव ने हमें युद्ध की सजा सुना दी है। हम यदि उसको चुपचाप मंजूर कर लेंगे तो मानवीय सभ्यता का अन्त निश्चित है।' यह बड़ी गम्भीर चेतावनी है। गनीमत इतनी ही है कि वह राज्य नेता हमको इतना ही बतलाता है कि यह सजा दैव ने सुनायी है, न कि भगवान् ने।'

शस्त्र-निरपेक्ष जीवन का उपक्रम

एक तरफ तो हमसे यह कहा जाता है कि अगर युद्ध आया तो सभ्यता का अन्त होगा, और दूसरी तरफ संहार के एक से एक भयंकर अस्त्रों का आविष्कार करने में संसार के शक्तिशाली राष्ट्र अपनी शान समझते हैं। कोई भी यह नहीं कहता कि अब युद्ध प्रलय का प्रतिहस्तक बन कर आयेगा इसलिए युद्धविरोधी जीवन का उपक्रम हम अपने देश से करेंगे। जब कि युद्ध के साथ मानव जाति का विनाश निश्चित है, तो जय-पराजय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। विजेता को भी विनाश से बचने का कोई रास्ता नहीं मिल सकेगा। जब ऐसी परिस्थिति निश्चित रूप से पैदा होनेवाली है तो फिर संसार के जो प्रमुख राष्ट्र हैं, उन्हें शस्त्र-संन्यास की वीरता दिखलाने में कौन-सी दिक्कत हो सकती है ? शस्त्रास्त्रों की होड़ में यदि वे एक-दूसरे की राह देखते नहीं बैठते, तो शस्त्र-संन्यास का उपक्रम करने में एक-दूसरे की राह देखने का कारण क्या है— सिवा इसके कि उन्हें एक-दूसरे से डर लगता है ? इसका अर्थ यह है कि राजनीतिज्ञों में कोई भी क्रांतिकारी कदम उठाने की शक्ति नहीं रह गयी है।

मानव-निरपेक्ष यन्त्र-विरोध

संसार का दूसरा प्रमुख व्यक्ति, एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक अपनी नयी पुस्तक में लिखता है कि 'अब संसार में मनुष्य का कोई उपयोग ही नहीं रहेगा।' हम सुनते और समझते तो यह आये हैं कि यह पृथ्वी मनुष्य का निवास-स्थान है। लेकिन विज्ञान का आधुनिकतम आविष्कार हमको यह बतलाता है कि पृथ्वी पर मनुष्य का अब कोई उपयोग नहीं रह गया है। उत्पादन के लिए मनुष्य का उपयोग करना अब बीते हुए जमाने की बात हो चुकी। अगर तीसरा महायुद्ध हुआ तो जितने समाजोपयोगी काम हैं, वे सब के सब यन्त्रों द्वारा सम्पन्न होंगे। सिर्फ बटन दबाने के लिए मनुष्य को अपने हाथ का उपयोग करना पड़ेगा। यहाँ तक कि चुनाव में प्रचार-भाषण भी बड़ी प्रभावशाली आवाज में और ओजस्वी भाषा में, उचित अभिनय के साथ 'यन्त्र-मानव' करेंगे। मनुष्य थकता है, यन्त्र कभी नहीं थकेंगे। न उन्हें छुट्टी की जरूरत होगी और न वे हड़ताल करेंगे।

इन यन्त्रों की देखभाल के लिए अत्यन्त निपुण विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी और इन विशेषज्ञों की ही पृथ्वी पर वास्तविक सत्ता होगी। युद्ध के जमाने में मनुष्य लड़ाई के मैदान पर मरने के काम आयेंगे, लेकिन लड़ाई के बाद मनुष्य अपने-आप में एक समस्या बन जायगा।

शानदार आलस्य का उपयोग

संसार का तीसरा एक महापुरुष तत्त्व-चिंतक बर्ट्रेण्ड रसेल इसमें से यह रास्ता सुझाता है कि अब मनुष्यों को सिर्फ ऐसे ही काम करने चाहिए, जो यंत्रों द्वारा नहीं किये जा सकते। उदाहरण के लिए कविता करना, साहित्य लिखना, चित्र खींचना, नाचना, गाना आदि-आदि। पहले सिर्फ धनिक ही रमणीय आलस्य में अपना समय बिताते थे, अब समस्त मानव-जाति इस शानदार आलस्य का उपयोग करेगी और केवल साहित्य, संगीत-कला और काव्यशास्त्र-विनोद में अपना समय बितायेगी!

सर्कस की नर्तकी सरस्वती !

तीन प्रमुख जागतिक नेताओं के ये तीन प्रकार के विचार हैं। मनुष्य की इन त्रिविध प्रवृतियों में आज तक बहुत बड़ा प्रभेद रहा है। साहित्य-निर्माण के द्वारा समाज को बुद्धिदान देनेवाले सरस्वती के ये उपासक, जिनके जिह्वाग्र पर सरस्वती नाचती रही ऐसे सरस्वती के ये भक्त, केवल शब्द-विलास में इतने खो गये कि उनकी संगति से सरस्वती सर्कस की नर्तकी बन गयी! सर्कस की नर्तकी जिस प्रकार तलवार की धार पर, अलपीनों पर, तार पर और बताशों पर नाच लेती है, उसी प्रकार विद्या-व्यसनी और विद्या-विनोदी पंडितों की जीभ तथा उँगलियों के सिरों पर सरस्वती नाचने लगी। उसका बाह्य रूप रमणीय और भड़कीला प्रतीत हुआ, परन्तु उसमें जीवन-शक्ति का सम्पूर्ण अभाव रहा।

मुलायम और मन्दजीवन की प्रतिमा : लक्ष्मी

लक्ष्मी तो आलस्य और विलासिता की अधिदेवी बन गयी। उसका आसन कमल है और उसका वाहन हाथी। वह मुलायम है और मन्द है, इसलिए उसके हाथ में भी कमल ही है। उसका दूसरा नाम भी कमला है। वह निरन्तर पर्यंकशायिनी है।

संहार के उन्माद की मूर्ति : दुर्गा

सरस्वती का वह हाल हुआ, लक्ष्मी का यह हाल हुआ, इसलिए दोनों को महाकाली की शरण लेनी पड़ी। महाकाली को विवेक से कोई मतलब नहीं। होश-हवास सँभाले रखने की कोई चिंता नहीं। उसके नयन नशे से नित्य मतवाले रहने चाहिए, उसका दिमाग निरन्तर उन्मत आवेश से बेहोश होना चाहिए। वह हमारी माता है, लेकिन सृष्टि की समृद्धि से हमारा भरण-पोषण करनेवाली माता नहीं है। सरस्वती ने हमारे

दिमागों को भीतर से साबित रखना छोड़ दिया, लक्ष्मी ने हमारी अंगुलियों की सिफ़त छीन ली है, इसलिए हमको निराशा और निष्फलता से बचाने के लिए काली माता वात्सल्यपूर्वक हमारे सिर काट-काट कर उनकी माला अपने गले में पहनती है और अपनी सारी भुजाओं में अनन्त संहारकारी आयुध रखती है।

माता के तीन रूपों में परस्पर विद्रोह

युद्ध, उत्पादन और सांस्कृतिक विकास में विच्छेद हो गया है। इसका यह परिणाम है कि हमारी माता के तीन रूप इतने भिन्न-भिन्न और परस्पर विरोधी हो गये हैं कि शैव और वैष्णव तो आपस में लड़ते ही रहे हैं, लेकिन लक्ष्मी और सरस्वती की लड़ाई भी हमारी पौराणिक संस्कृति में कुछ कम प्रसिद्ध नहीं है। इसीलिए वे दोनों काली-करालो से घबराती रहती हैं।

युद्ध की सजा से मुक्ति का उपाय

इसका एक ही उपाय है। 'कराग्रे वसते लक्ष्मी' के इंगित को हम भलीभाँति आत्मसात् कर लें। हमारी जीभ पर जो भारती नाचती है, उसके नृत्य के विषय हमारी उँगलियों की कारीगरी में से उत्पन्न होने चाहिए। उत्पादन की प्रक्रिया कलाविषयक प्रेरणा का अनन्त भण्डार होनी चाहिए। जब ऐसा होगा तब काली-माता को संहार-क्रिया के लिए जान-बूझ कर अपने होश गँवा देने की जरूरत नहीं मालूम होगी। उसकी भुजाओं में संहार के हथियार नहीं, बल्कि उत्पादन के औजार होंगे। जब ऐसा होगा, तभी हमारे साहित्य, कला, संगीत, और नृत्य सब विलासिता के प्रतिहस्तक बनने के बदले मानवीय कल्याण के अग्रदूत बनेंगे। युद्ध की सजा से मुक्ति पाने का अन्य कोई उपाय नहीं।

८-१०-१९५१

६. अविश्वास से शान्ति कायम नहीं हो सकती

ठंडी लड़ाई : महायुद्धों की जननी

संयुक्त-राष्ट्र-संघ अर्थात् 'यूनो' के मुख्यमंत्री श्री त्रिग्वे ली ने मास्को जाते समय जिनिवा में आठ मई को एक भाषण किया, जिसमें उन्होंने कहा कि अब इस ठंडी लड़ाई का अन्त करने की कोशिश जागतिक पैमाने पर होनी चाहिए। लीसाहब ने यह बात बहुत अनुतप्त होकर कही है। ठंडी लड़ाई और गरम लड़ाई का सम्बन्ध अब चोली-दामन का हो गया है। नतीजा यह है कि लड़ाई किसी न किसी रूप में जारी ही रहती है। जब प्रत्यक्ष शस्त्र-सम्पात नहीं होता, शस्त्र बनाने के उद्योग, अस्त्र खोजने के प्रयोग और युद्ध की तैयारियाँ चालू रहती हैं। नतीजा यह होता है कि सन्धि या शान्ति जैसी

कोई अवस्था ही नहीं रह जाती। जिसे हम शांति-काल कहते हैं, वह असल में युद्ध-विराम की अवस्था होती है, उस अवस्था में युद्ध की तैयारी चलती ही रहती है और युद्ध की वृत्ति का परिपोष होता है।

युद्ध चालू ही है

मिसाल के लिए दो दृष्टान्त ले लें। एक दंगल का और दूसरा स्वास्थ्य-रक्षण का। कसरत या व्यायाम कोई स्वास्थ्य-रक्षण के लिए नहीं करता, बल्कि बल प्रयोग के लिए और प्रदर्शन के लिए करता है। कुश्ती या दंगल का प्रसंग तो साल-छह महीने में कभी-कभी आता है, लेकिन उस प्रसंग को निरन्तर दृष्टि के सामने रखकर सालभर तैयारी करनी पड़ती है। अखाड़े का सिद्धान्त-वाक्य है, "जिन्दगी दंगल की तैयारी है।" युयुत्सु जगत् का सिद्धान्त है, "जीवन युद्ध की तैयारी है।" पुराने जमाने में सिर्फ फौजें लड़ती थीं, इसलिए टक्कर के मेढ़ों की तरह सिर्फ सिपाही ही युद्ध की अविरत तैयारी में लगे रहते थे। अब जमाना संकुल-युद्ध का है। जितने नागरिक हैं, उतने ही सिपाही हैं। सारे नागरिक वर्दीधारी हैं, झंडा-बरदार हैं। इसलिए समग्र राष्ट्र जब युद्ध में संलग्न नहीं रहते, तब युद्ध की तैयारी में निरत रहते हैं। जब गरम युद्ध नहीं रहता, तब ठंडा युद्ध रहता है।

शान्ति-स्थापना की शर्तें : हृदय-परिवर्तन

इसके दो ही उपाय हो सकते हैं। अगर ठंडे युद्ध से तबियत ऊब गयी हो तो गरम युद्ध छेड़ देना चाहिए। लीसाहब कहते हैं कि काफी स्फोटक द्रव्य और ज्वालाग्राही सामग्री मौजूद है। सबसे अधिक ज्वालाग्राही पदार्थ मनुष्य का हृदय है। इसलिए उसके आशय को बदल देना शान्ति-स्थापना की पहली, दूसरी और अंतिम शर्त है। इसके लिए दूसरे उपाय से काम लेना होगा। उसकी मिसाल हमें स्वास्थ्य-रक्षण में मिलती है। हम सब जानते हैं कि हमारे जीवन का अवसान मरण में अनिवार्य रूप से होनेवाला है, लेकिन फिर भी हम जीवनभर मौत की तैयारी नहीं करते रहते। हमारे सारे आयोजन मृत्यु के लिए नहीं होते, बल्कि जीवनभर हम यह प्रतिज्ञा करते रहते हैं कि जिन्दगी का मकसद कब्र नहीं है। शरीर को मरण-योग्य बनाने का नाम स्वास्थ्य नहीं है।

ठीक इसी तरह निरन्तर युद्ध क्षमता बढ़ाते रहने से शान्ति की स्थापना कभी नहीं हो सकती। उसके लिए युद्ध-विरोधी मनोवृत्ति का विकास करना होगा और उसके अनुकूल आयोजन करने होंगे। युद्ध की वृत्ति का और युद्ध की तैयारी का बहुत बड़े निग्रह के साथ त्याग करना पड़ेगा। सबके मन में एक-दूसरे के लिए अविश्वास है, इसलिए पहला कदम उठाने में सब हिचकते हैं। 'यूनो' के शांति-स्थापना के मनसूबे तभी चरितार्थ होंगे, जब कि दूसरे पर विश्वास करने की हिम्मत दिखाने का जौहर किसी महान् राष्ट्र में प्रकट होगा। आज संसार को ऐसे महान् राष्ट्र की आकांक्षा है। भगवान जाने वह भाग्यशाली राष्ट्र कौन-सा होगा ?

९-५-१९५०

७. देवघर का पाठ

देवघर में जो उद्वेगजनक घटना घटी, उसके विषय में सभी ने अपना निषेध प्रकट किया। रामराज्य-परिषद के मुख्य प्रवक्ता, श्री करपात्रीजी महाराज ने विनोबा से अनुरोध किया है कि ऐसे प्रश्नों का निर्णय शास्त्रार्थ से ही होना चाहिए, न कि शासन-शक्ति के प्रयोग से। सुझाव सम्पूर्ण रूप से उपयुक्त है। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या देवधर के जिन पण्डों ने यह जघन्य व्यवहार किया, उन्हें शास्त्र-प्रमाणवादी कहा जा सकता है ? उनका विश्वास न तो शास्त्र में है और न अनुशासन में। वे शुद्ध शास्त्र प्रामाण्यवादी हैं। उनके प्रति एक ही शुभ व्यवहार हो सकता था और वही विनोबा ने किया। जब विनोबा ने देखा कि कुछ लोगों को उनके मंदिर-प्रवेश पर आपत्ति है, तो वे तुरन्त लौट पड़े। उन्होंने अहिंसात्मक प्रतीकार का भी प्रयोग नहीं किया। लौकिक भाषा में जिसे केवल अप्रतीकार ही कहेंगे, उस वृत्ति से विनोबा ने व्यवहार किया। फिर भी शास्त्रवादियों ने उन पर शस्त्र-प्रयोग करना धर्मरक्षण के लिए आवश्यक समझा। क्या इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमारे देश में धर्म के अभिमानियों का विश्वास शास्त्र की अपेक्षा मुष्टि-बल पर अधिक है ?

मंदिर-प्रवेश और कानून

विनोबा अगर कानून का सहारा लेकर मंदिर-प्रवेश करने की कोशिश करते, तो भी धर्माभिमानियों का यह अत्याचार अगर क्षम्य नहीं, तो कम से कम स्वाभाविक प्रतिक्रिया माना जाता परन्तु विनोबा तो अत्यन्त विनय-संपन्न जन-सेवक हैं। अपने भूदान-आंदोलन में भी उन्होंने शासन-शक्ति या संविधान से प्राप्त अधिकार का प्रयोग नहीं किया है। उनकी निष्ठा हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया में है। हृदय-परिवर्तन स्थूल बल प्रयोग से नहीं होता, इसका उन्हें निरंतर बोध रहता है। ऐसी स्थिति में मंदिर-प्रवेश के मामले में वे कानून से फायदा उठाने की चेष्टा भला कैसे करते ?

करपात्रीजी ने विनोबाजी को जो हितोपदेश किया है, उसके बारे में हमारी कोई शिकायत नहीं है। विनोबा को और उनके साथियों को स्नेहशीलता तथा सौहार्द की वृत्ति ही शोभा देती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। उन्होंने कह भी दिया कि मैं नहीं चाहता कि किसी को किसी तरह की सजा हो। अपने साथियों से उन्होंने कहा, 'हमें अपने मन में किसी तरह की कटुता नहीं रखनी चाहिए।'

सद्भावना-निर्माण का प्रयत्न

मंदिर-प्रवेश के प्रतिबन्ध को वे धर्म, न्याय और मानवता के प्रतिकूल मानते हैं, फिर भी अपनी निष्ठा की प्रतिष्ठा के लिए किसी बाह्य शक्ति का सहारा उन्होंने नहीं लिया। जरा-सा विरोध देखते ही वे परावृत्त हुए। इससे अधिक वे क्या कर सकते थे। उनके

सहयात्रियों में से या साथियों में से किसी का प्रमाद होता, तो वे स्वयंप्रेरणा से ही प्रायश्चित करते। परन्तु आज की स्थिति में तो वे धर्माभिमानियों के हृदय में सद्भावना जागृत करने की प्रार्थना ही भगवान् से कर सकते हैं, सो वे कर रहे हैं।

इस दुर्घटना के बाद बिहार के मुख्य मंत्री, माननीय श्री श्रीबाबू ने हरिजनों के साथ बड़े समारोह से मंदिर-प्रवेश किया। परंतु उनके इस समारम्भ में एक बहुत बड़ा दोष रह गया। पुलिस के बंदोवस्त के बिना केवल एक सामान्य नागरिक की हैसियत से भगवद्-भाव से प्रेरित होकर यदि वे सारे राज-चिह्नों से भी उन्मुक्त होकर मंदिर में जाते, तो वह समाज-जीवन में शुद्धि करनेवाला एक धर्म-कर्म हुआ होता। भगवान् के दरबार में सभी भक्त समान हैं, यह हमारा दावा है। इसलिए सत्ताधीश को भी मामूली आदमी की भूमिका पर आकर, सत्ता के सारे अलंकारों को उतारकर विनयपूर्वक ही देवालय में प्रवेश करना चाहिए।

वेद-शास्त्र-पुराण-प्रणीत परम्परागत सनातनी परिपाटी के प्रमुख प्रवक्ता श्री करपात्री महाराज से भी हमारा एक नम्र निवेदन है। क्या दरअसल वे धर्म की स्थापना या धर्म के संरक्षण के लिए शस्त्र-बल और शासन-शक्ति के प्रयोग को निषिद्ध मानते हैं ? यदि निषिद्ध नहीं, तो कम से कम गौण मानते हैं ? सवाल केवल गांधी-प्रणीत अहिंसा का नहीं है, गांधी के अनुयायी और साथी यदि गांधी-प्रणीत अहिंसा के मार्ग से डिग जाते हैं, तो वे अपनी निष्ठा का त्याग करते हैं, परन्तु उससे उनका अपना पतन होगा, समाज की सार्वत्रिक हानि नहीं होगी। किन्तु यदि हम यह मानें कि गांधी-प्रणीत अहिंसा में निष्ठा रखनेवालों को तो अपने अहिंसा-व्रत पर नितांत प्रतिकूल परिस्थिति में भी दृढ़ रहना चाहिए, मगर दूसरे धर्मवादी और नीतिवादी व्यक्तियों के लिए धर्म-रक्षण के हेतु शस्त्र-बल का आश्रय करना प्रशस्त है, तो हम समाज में शास्त्र की या तत्त्व की प्रतिष्ठा नहीं कायम करते, बल्कि बाहुबल और पशु-शक्ति की प्रतिष्ठा का मार्ग प्रशस्त करते है। सनातनी परम्परा के जो प्रामाणिक और प्रमाणभूत अभिभावक हैं, उनके लिए यह गम्भीर चिंतन का प्रश्न है। यदि वे शास्त्र-प्रामाण्यवादी हैं और शास्त्रार्थ के द्वारा मत-परिवर्तन में उनका विश्वास है, तो उन्हें धर्म-प्रवर्तन के लिए और तत्त्व-रक्षण के लिए बाह्य शक्ति का प्रयोग सर्वदा निषिद्ध मानना चाहिए। यदि इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना से इतना पाठ भी हमारे देश के धर्माभिमानियों ने सीखा, तो हम यह कहेंगे कि संकट में से भी भगवान् की मंगलमय शक्ति का अविष्कार होता है।

सर्वोदय इससे अधिक कुछ निवेदन नहीं कर सकता। उसे अपनी मर्यादा सम्भालनी है। शेषं धर्मेण पूरयेत्।

३०-९-१९५२

८. अविलंब गोवधबंदी की उपयुक्तता

मतभेद की गुंजाइश नहीं

इधर कुछ दिनों से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने गोवध-बन्दी का आन्दोलन शुरू कर दिया है। गोवध-बन्दी के विषय में कम-से-कम हमारे देश में दो रायें हो ही नहीं सकतीं। संविधान-परिषद में जब यह प्रश्न आया, उस वक्त संविधान-परिषद के मुस्लिम सदस्यों ने गोवध-बन्दी के कानून की आवश्यकता का प्रतिपादन बड़े जोरदार शब्दों में किया था। इस देश में कुछ मुसलमान और कुछ अहिन्दू-गैरमुस्लिम भी गाय-बैल का मांस खाते हैं। लेकिन उनमें से शायद ही किसी का गोवधबन्दी के कानून के लिए विरोध रहेगा। हमारा यह निश्चित मत है कि इस देश में सार्वत्रिक और सम्पूर्ण गोवध-बन्दी का कानून जल्द-से-जल्द बन जाना चाहिए।

एक सस्ता आक्षेप

कुछ लोगों का यह आक्षेप है कि जिन लोगों की कोई वकत नहीं रह गयी थी, वे फिर से अपनी इज्जत जमाने के लिए यह आन्दोलन शुरू कर रहे हैं। यह धौंस-धौंखड़ी का आन्दोलन है। जब कोई काम नहीं रह गया, तो समय को बहलाने के लिए अपनाया हुआ यह नया शगल है, इसलिए इसकी तरफ से सावधान रहना चाहिए।

गोवध कोई नहीं चाहता

इस आक्षेप में कोई तथ्यांश हो या न हो, लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि अगर यह प्रतिष्ठा पाने की युक्ति है और महज एक शगल है, तो भी अपने-आप में वह एक शुद्ध और बांछनीय प्रवृत्ति है। इस देश में गोवध कोई नहीं चाहता। जो चाहते हैं, वे न देश के हित को समझते हैं और न अपने हित को। उनमें से कुछ अविवेकी हैं और कुछ संप्रदायांध। उनके मत की कोई कीमत नहीं है। इस देश की अधिकांश या यों कह लीजिये कि लगभग समूची जनता गोहत्या के विरुद्ध है और इसीलिए भिन्न-भिन्न राज्यों में इस दिशा में कानून बन चुके हैं और बनाये जा रहे हैं। एक ही कदम आगे बढ़ाने की बात है। सिद्धान्त की तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। प्रश्न केवल व्यावहारिकता का है और वह भी कोई बहुत कठिन नहीं है।

विलम्ब अप्रशस्त है

जब कि देश की करीब-करीब सारी जनता गोवध-बन्दी के पक्ष में है, तो आज नहीं, कल कानून अवश्य बनेगा। आज इस आन्दोलन का विरोध करके कल कानून बनावे तो आन्दोलनकारियों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। लेकिन बिना आन्दोलन के ही तुरन्त

मानून बन जाय, तो सारी हवा खतम हो जायगी। अत: हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि जो बात अपने में प्रशस्त और आवश्यक है, उसके करने में तनिक भी विलम्ब होना नहीं चाहिए।

पहला सांस्कृतिक कदम

मीमांसा का एक पुराना न्याय है कि धर्मविचार में जहाँ धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र का विरोध आता हो, वहाँ धर्मशास्त्र को अधिक प्रबल मानना चाहिए और उसके अनुकूल अर्थशास्त्र का निर्णय करना चाहिए। मनुष्य ने जिस दिन आखेट के व्यवसाय को छोड़ कर कृषि और पशु-पालन का आरम्भ किया, उसी दिन उसने सांस्कृतिक दृष्टि से पहला क्रान्तिकारी कदम उठाया। जिस व्यक्ति या जिन व्यक्तियों ने वनस्पति और पशुओं के गुणधर्मों तथा स्वभावधर्मों का अवलोकन और अध्ययन किया होगा, वे कितने सूक्ष्मदर्शी और सहृदय रहे होंग! उन्होंने जिन पशुओं को हमारी समाज-रचना का अंग और मनुष्यों का सहयोगी बनाया, उसके बाद आधुनिक विज्ञान-सम्पन्न और संस्कृति-सम्पन्न मनुष्य ने कोई बहुत-से नये पशु और नये पौधे मनुष्य-जीवन में दाखिल किये हों, ऐसा नहीं दिखाई देता। विज्ञान का प्रयोजन मनुष्य को केवल सुखी और सम्पन्न बनाना ही नहीं है। विज्ञान के द्वारा संस्कृति का विकास भी होना चाहिए। और संस्कृति का अर्थ है— अधिक-से-अधिक जीवों को अभयदान तथा जीवनदान।

दूध का उपकार

जिस दिन मनुष्य ने किसी मनुष्येतर प्राणी को इस योग्य समझा कि वह उसका दूध पी सके, उस दिन उसने उस पशु के साथ एक आत्मीयता का संबंध स्थापित कर लिया। गाय के आत्मा नहीं होती, इस निर्बुद्धि धारणा को उसने छोड़ दिया। उसने गाय को पयस्विनी का स्थान दिया। स्वास्थ्य-विज्ञान कहता है, "सद्य: शुक्रदायी पय:"— (दूध तुरन्त वीर्य उत्पन्न करता है।) हम अक्सर कहा करते हैं, "मैंने भी अपनी माँ का दूध पिया है।" महापुरुषों के बारे में हमेशा कहा जाता है कि उन्होंने अपनी माँ के दूध के साथ ही वीरता और कारुण्य का प्राशन किया था। इसीलिए जिस पशु का दूध पिया जाता है, उसे प्राय: खाने का रिवाज नहीं होता। कुछ लोग उसे अखाद्य समझते हैं और कुछ अवध्य भी। पुराने विचार के लोग जिन प्राणियों की मादाओं का दूध पीते हैं, उनके नरों को तो खाते हैं, लेकिन प्राय: मादाओं को खाने के काम में नहीं लाते। जिस दिन मनुष्य ने किसी पशु का दूध पीने का संकल्प किया होगा, उसी दिन से उसका मांस खाना निश्चित रूप से कम हो गया होगा। कृषि और पशुपालन मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में दो ऐसे कदम हैं, जिन्होंने मनुष्य को मानवीय बनाया।

विज्ञान से मानव्य बड़ा

उपयोगिता के आधार के बिना कोई शुष्क भावना जीवन में चरितार्थ नहीं होती।

गाय और बैल का स्थान हमारे देश की अर्थव्यवस्था में अद्वितीय है। गाय की उपयोगिता के कारण ही इस देश के संस्कार-प्रवर्त्तकों ने उसे अवध्य करार दिया। किसी मनुष्येतर प्राणी को अवध्य करार देना कोई मामूली संकल्प नहीं है। विज्ञान बड़ा है। अर्थशास्त्र भी उपेक्षणीय नहीं है। लेकिन मनुष्य अपने विज्ञान और अर्थशास्त्र से कहीं बड़ा है। गाय को पवित्र और अवध्य समझने का संकल्प जिस दिन मनुष्य ने किया, उस दिन उसका कद बढ़ गया। अपनी मनुष्यता की प्रतिष्ठा का दायित्व उस पर प्रकट हो गया।

अगर-मगर की जगह नहीं

हमें इस सम्बन्ध में भारतवर्ष में कोई नया संकल्प नहीं करना है। यहाँ की मिट्टी के कण-कण में वह संकल्प भरा हुआ है। यहाँ का सारा वातावरण उस संकल्प से ओतप्रोत है। यहाँ तो उस पर सिर्फ कानून की मुहर लगाने की बात है। इसमें आनाकानी की या अगर-मगर की गुंजाइश नहीं।

धार्मिक भावना का सवाल नहीं

जो लोग गोमांस खाते हैं वे किसी धार्मिक भावना से नहीं खाते, उनके लिए तो वह केवल सुविधा का सवाल है। वे गाय को पवित्र या अवध्य नहीं मानते। लेकिन जो लोग यह मानते हैं कि गाय-बैल खाना उनका धार्मिक कर्तव्य है वे धर्म का और ईश्वर का अपमान करते हैं। क्या हम यह कहेंगे कि बादशाह खाँ की तरह जो लोग मांसाहार छोड़ देते हैं वे काफिर बन जाते हैं ? इसमें किसी की धर्मभावना पर आघात पहुँचाने का कोई सवाल नहीं है। एक मनुष्येतर प्राणी की हत्या न करने का सङ्कल्प मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का द्योतक है। इस देश में परंपरा से वह सङ्कल्प हमारे सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो गया है। अब किन्तु-परंतु के लिए अवसर कहाँ है ?

अर्थशास्त्र का प्रयोजन

व्यावहारिक कठिनाइयाँ अनेक हैं। हरएक शुभ संकल्प प्रयत्नसाध्य ही होता है और इसीलिए उसके द्वारा मनुष्य के जीवन की प्रगति होती है। जहाँ प्रयत्न की आवश्यकता न हो, वहाँ प्रगति सम्भव भी नहीं होती। जिन लोगों का कानून बनाने के विषय में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष विरोध है, वे गोवध के हिमायती तो हो ही नहीं सकते। क्या उनका यह कहना कि आज जो गो-हत्या होती है, वह केवल अनिवार्य ही नहीं आवश्यक भी है ? अगर वे भी आज होनेवाली गोहत्या को आवश्यक और वांछनीय मानते हों तो उन्हें हिम्मत के साथ वैसा कहना चाहिए और सार्वजनिक कत्लखानों का व्यवस्थित आयोजन करना चाहिए। हम सारी गायों को नहीं पाल सकते, इसलिए जिनकी हत्या होती है उनकी हत्या होने दो, इस नीति में न तो आर्थिक संयोजन है और न सांस्कृतिक भावना ही। मनुष्य का अर्थशास्त्र मानवीय भी होना चाहिए। अर्थशास्त्र आखिर जीवन-विकास और जीवन की उन्नति के लिए ही तो है न ? मनुष्येतर प्राणियों को अपने आर्थिक जीवन

में समाविष्ट करके मनुष्य ने अपने अर्थशास्त्र को अतिमानवीय और अधिक भव्य नींव पर रखने की कोशिश की है। वैज्ञानिकों को अपना सारा विज्ञान, संयोजकों को अपनी सारी संयोजना-चातुरी और प्रशासकों को अपना सारा प्रशासन कौशल मनुष्य के इस महान् प्रयोग को सिद्ध करने में लगा देना चाहिए। जो संकल्प हमारे रक्त में रम गया है, उससे मुँह मोड़ने के बदले उसको कार्यान्वित करने के लिए हमको अपनी सारी बुद्धि, भावना और कर्तृत्व का उपयोग करना चाहिए।

कानून काफी नहीं

परन्तु ध्यान रहे कि अत्यन्त वस्तुविमुख संकल्प संविधान या विधान का अंग बन जाने पर भी कागज पर ही रह जाता है। वह हमारे जीवन में कभी चरितार्थ नहीं होता। जो खुद राजा नहीं होता, उसका राजसत्ता में अत्यधिक विश्वास होता है। वह समझता है कि मेरे हाथ में राजसत्ता होती तो मैं इस देश की धरती, आसमान, चाँद और सितारे— सब कुछ उलट-पुलट कर देता।

जिलाने की योजना

जो चीज जिसके पास नहीं होती, उसके विषय में वह अवास्तव कल्पना कर लेता है। गोवध-बन्दी के आन्दोलन के प्रवर्तकों का यदि यह खयाल है कि सिर्फ कानून बनाकर वे गाय को बचा लेंगे, तो नम्रतापूर्वक हम कह देना चाहते हैं कि वे मियाँ शेखचिल्ली की दुनिया में रहते हैं। सारी दुनिया में मनुष्य अवध्य और अखाद्य माना गया है। सामाजिक शासन और युद्ध के अपवाद को छोड़कर मनुष्य-वध का सार्वत्रिक निषेध है। फिर भी क्या कोई यह कह सकता है कि हमने मनुष्यों को बचा लिया? क्या आज भी करोड़ों आदमी भूखों नहीं मरते? करोड़ों तरह-तरह की बीमारियों के शिकार नहीं होते? और करोड़ों शोषण और अत्याचार के कारण नहीं मरते? अवैध करार देना एक बात है, और जिलाना बिलकुल दूसरी बात। हमने मनुष्य को अवैध करार दिया है, लेकिन उसे जिला नहीं पाये हैं। कोई भी भावना निरालम्ब नहीं ठहर सकती। उसे धरती पर आधार की आवश्यकता होती है। गाय को पवित्र मानने की भावना के लिए आज हमारे सामाजिक और आर्थिक जीवन में कोई वास्तविक आधार नहीं रह गया है।

भयंकर परिणाम

नतीजा यह है कि जो लोग गाय को पूजते हैं, वे ही उसे भूखों मारते हैं। वे ही बैलों पर अकथनीय अत्याचार करते हैं और वे ही गाय-बैलों को कसाई के हाथ बेचते हैं।

'गो-वादियों' की दांभिकता

गोवध-बंदी का कानून पहला और अनिवार्य कदम है, जिसके विषय में हमारे

मन में तनिक भी संदेह नहीं है। इसलिए हमारे शब्दों में जितनी उत्कटता और सामर्थ्य है, उस सबके साथ हम यह अनुरोध करते हैं कि गोवध-बंदी का कानून अवश्य बने और अविलम्ब बने। परन्तु उतनी ही उत्कटता के साथ और आग्रह के साथ गोवध-बंदी-आन्दोलन के प्रवर्त्तकों से हम यह विनय करना चाहते हैं कि जब तक कानून के लिए वस्तुस्थिति में अधिष्ठान नहीं होगा, तब तक कानून निराधार और निष्फल रहेगा। जो लोग रात-दिन 'गोमाता की जय' के नारे लगाते हैं और गाय के घी-दूध की महिमा गाते नहीं थकते, ऐसे भगवान् गोपाल-कृष्ण के परम भक्त भी गाय की व्यावहारिक उपयोगिता और आवश्यकता बढ़ाने की कोई चेष्टा नहीं करते। एक तरफ गाय की पूजा होती है, वे उसे पुचकारते-सहलाते हैं, उसकी पूँछ का स्पर्श करके अपने को धन्य मानते हैं, और दूसरी तरफ डाल्डा के कारखाने खोलते हैं, बैलों को बेकार करनेवाले ट्रक और ट्रैक्टर चलाते हैं तथा यन्त्रीकरण की होड़ में सबसे आगे दौड़ने का हौसला रखते हैं। हमारी गोभक्ति की गम्भीरता और उत्कटता केवल शाब्दिक श्रद्धा तक ही सीमित रही तो विधाता भी गाय को नहीं बचा सकता, बेचारा विधान तो दूर रहा।

हमारी निष्ठा में विसंगति

आप हजार कानून बनाइये, क्या बकरे को बचा लेंगे ? भैंस और भैंसों को आप अवैध कभी करार करा सकेंगे ? बकरे का कोई उपयोग नहीं है और बैल के मुकाबले भैंसे का उपयोग भी कम है; इसलिए हमारी धार्मिक भावना ने चोर-रास्ते खोज कर बकरे को बलिदान का पशु मान लिया और विशिष्ट धार्मिक अवसरों पर भैंसे का बलिदान भी विहित एवं आवश्यक मान लिया। जहाँ मनुष्य मनुष्य के हित के विरोध में खड़ा हुआ, वहाँ उसका वध भी क्षम्य ही नहीं, प्रत्युत आवश्यक और धर्म्य माना गया। इस प्रकार धर्मयुद्ध का शास्त्र और दण्डविधान परिणत हुआ। मनुष्य जब मनुश्य का प्रतिस्पर्धी और प्रतिपक्षी बन जाता है, तब वह अपनी योनि के प्राणी को मारने से भी बाज नहीं आता, बल्कि मनुष्य को मारने के लिए धार्मिक तथा नैतिक आधार खोजने में अपनी सारी अक्ल और चतुराई भी खर्च करता है। हम यह स्पष्ट शब्दों में और निश्चयपूर्वक कह देना चाहते हैं कि गोवधबंदी के संकल्प में प्राणिमात्र के लिए समभाव का जो महान् सांस्कृतिक संकेत निहित है, उसे छोड़ कर जो लोग गोवधबंदी का कानून बनवाना चाहेंगे, वे कानून तो बनवा लेंगे, लेकिन गाय को मरने देंगे।

गोवध-बंदी का सम्पूर्ण आशय

गोवध-बंदी का आन्दोलन चाहे किसीका शगल हो या हिकमत हो, हमें उससे मतलब नहीं है। अपने-आप में वह संकल्प उदात्त और शुद्ध है। इसलिए हम सम्पूर्ण हृदय से और विवेकपूर्वक उसका समर्थन करते हैं। लेकिन साथ-साथ यह भी नम्रतापूर्वक और निश्चयपूर्वक कह देना चाहते हैं कि गोवध-बन्दी के जो सहचारी भाव हैं, उसके

जो फलितार्थ हैं, और उसका जो सम्पूर्ण आशय है, वह भी हमें खुद समझना चाहिए और लोगों को समझाना चाहिए, अन्यथा महान् सांस्कृतिक हानि होगी । या तो हमारे धर्म-प्रवक्ता और नीति-प्रवक्ता बकरे, भैंसे और मनुष्य की तरह कुछ अवसरों पर गाय की हत्या करने के शास्त्रीय विधान बना लेंगे और उस हत्या को धार्मिक विधि का नाम देंगे या फिर सार्वत्रिक मिथ्याचार का बाजार गरम होगा।

गम्भीर चेतावनी

कागज पर गाय अवध्य रहेगी, लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में उसके सारे भक्त उसे उपेक्षा से, अनास्था से और उत्पीड़न से इंच-इंच करके मारेंगे।

इतनी गम्भीर चेतावनी दे देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं। हमारा नम्र निवेदन है कि गाय को अवश्य अवध्य करार दीजिये, हम भी आपके साथ हैं, लेकिन गाय और बैल को इज्जत के साथ जिलाने के लिए, समाज में उसकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए कोई विधायक आयोजन भी कीजिये।

निरपवाद और निरपेक्ष समर्थन

हमारे कहने का यह अभिप्राय हरगिज नहीं है कि जब तक ऐसा विधायक आयोजन हो, तब तक कानून भी न बने। कानून अवश्य बने। कानून के लिए हमारा समर्थन निरपेक्ष और निरपवाद है।

१३-११-१९५२

९. गोहत्या कैसे बन्द हो ?

उस दिन हमारे राष्ट्रनेता श्री जवाहरलालजी ने कहा कि गोरक्षण को धार्मिक प्रश्न बनाकर लोग असल में गाय को बचाने के बदले मार रहे हैं। यह आरोप दरअसल नाहक लगाया जाता है। अगर धर्म यह कहे कि मनुष्य को मारना पाप है, तो क्या वह नर-हत्या को बढ़ावा देता है ? असल में वह नर-हत्या का निषेध करता है, अगर हम यह कहें कि सिर्फ आदमी को न मारने से वह नहीं जीता, उसे जिलाने की तजवीज भी करनी चाहिए, तो हमारी बात माकूल है। जवाहरलालजी अगर यह कहें कि सिर्फ गाय को मारने की मुमानियत कर देने से गाय नहीं जियेगी, उसे जिलाने की कोशिश भी करनी चाहिए, तो उनकी सलाह हमें शिरोधार्य होनी चाहिए।

सरकार का कर्त्तव्य

मगर इसमें सरकार की जिम्मेवारी भी है। वह अब तक पूरी नहीं हुई है। भूदान-

यज्ञ पर जब हमारे प्रधानमंत्रीजी ने भाषण किया था, तो उन्होंने यह कहा था कि विनोबा के प्रयत्नों से सरकार की जिम्मेवारी खतम नहीं होती। सरकार की और कानून की जरूरत तो फिर भी रहेगी। स्त्रियों और हरिजनों के बारे में कानूनी जिम्मेवारी बहुत बड़ी हद तक पूरी की गयी है। अब उसका अमल जनता और सरकार के संयुक्त प्रयत्नों से होगा। उसी तरह गाय के बारे में कानून बना कर सरकार अपना फर्ज पूरा करे। फिर उसके अमल के लिए दोनों मिलकर कोशिश करें।

सम्प्रदाय-निरपेक्षता का अर्थ

सरकार सम्प्रदाय-निरपेक्ष है। लेकिन अगर कोई धर्म आदमी की हत्या को पाप करार देता है, तो फाँसी की सजा रद्द कराने से सरकार सम्प्रदायपरायण नहीं बन जाती। गाय की हत्या का विधान (आज्ञा) किसी भी सम्प्रदाय में नहीं है। एक धर्म उसकी हत्या को पाप करार देता है। गाय की उपयोगिता और सामाजिक मूल्य बढ़ाना हमारे आर्थिक संयोजन का एक भाग है। ऐसी हालत में जो धर्म गाय को 'अवध्य' करार देता है, वह कानून की मदद ही करता है। धर्म जब शराब को हराम करार देता है, तो वह कानून के साथ सहयोग ही तो करता है।

आज बड़े-बड़े शहरों में सिर्फ बेकार और क्षीणप्राण पशुओं की ही हत्या नहीं होती, उपयोगी और जीनेयोग्य पशुओं की भी हत्या होती है। इसे सरकार जरूर रोक सकती है। गोवध-बन्दी का प्रश्न सम्प्रदायवाद का नहीं है। वह आर्थिक और सांस्कृतिक मूल्यों के रक्षण का प्रश्न है।

८-१०-१९५३

१०. अहिंसक जबरदस्ती

गांधीजी के कार्यक्रम पर अक्सर यह आक्षेप किया जाता है कि अगर सशस्त्र प्रतीकार में जबरदस्ती और बलप्रयोग है तो आपके अहिंसक प्रतीकार में क्या वह नहीं है ? शरीर-बल प्रयोग करनेवाला व्यक्ति शरीर-दण्ड के द्वारा दूसरे को अपने अधीन कर लेता है, उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे अपनी इच्छा के मुताबिक चलने पर मजबूर करता है। आप अहिंसक प्रतीकारी भी क्या ऐसा ही नहीं करते ? जब आप किसीसे असहयोग करते हैं, तब वह तंग आ जाता है और आपकी बात मान लेता है। जब आप कानून तोड़-तोड़कर ऊधम मचाते हैं और चारों तरफ अराजकता का वातावरण खड़ा कर देते हैं, तब सरकार बेचारी परेशान होकर आप से संधि कर लेती है। जब आप खाना छोड़ कर फाका करने लगते हैं, तब प्रतिपक्षी का कोमल चित्त दहल जाता है।

इसलिए वह विकल होकर आपकी इच्छा पूरी करता है। क्या यह सब जबरदस्ती ही नहीं है ? इसमें कहाँ तक हृदय-परिवर्तन है और कहाँ अहिंसा है ? अगर शस्त्र-प्रयोग में हिंसा है, तो आपके सत्याग्रह में भी है। दोनों में यह समान दोष है।

आक्षेप में कुछ तथ्य अवश्य है। परन्तु वह सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है। असल में तो अहिंसा में किसी तरह की जबरदस्ती होनी ही नहीं चाहिए। लेकिन हमारा उद्देश्य कितना ही शुद्ध क्यों न हो, सामनेवाले को कुछ-न-कुछ तकलीफ और परेशानी तो उठानी ही पड़ती है तंग आकर वह हमारी बात मान लेता है और हमसे और भी ज्यादा चिढ़ जाता है। लेकिन ये सब दोष तो आनुषंगिक हैं, जबकि हिंसक प्रतीकार में वे उसके अंगभूत ही हैं। अहिंसक प्रतीकार में भी हमारे हृदय की कमजोरियों के कारण वे दाखिल हो जाते हैं। फिर भी, अहिंसक प्रतीकार और हिंसक प्रतीकार में एक बड़ा भारी अन्तर है।

हिंसक प्रतीकार जब दूसरे को परास्त करता है, तब वह अपने प्रतिपक्षी के दिल में विद्वेष और प्रतिशोध के जहर के साथ-साथ भीरुता का हलाहल भी पैदा कर देता है। सत्याग्रही के फाके से परेशानी उसीको होती है, जिससे दूसरों का कायक्लेश देखा नहीं जाता। दरवाजे पर एक भिखारी आता है। सहसा सीढ़ी के पत्थर पर अपना सिर पटक देता है या एक पैनी छुरी अपने पेट में भोंक लेता है। हम अकुला उठते हैं। हमारे लिए यह दृश्य असह्य हो जता है। चित्त दया से व्याकुल हो जाता है। हम उसे भीख देकर अपनी जान छुड़ाते हैं।

जबरदस्ती तो यहाँ भी है। लेकिन उसका रूप और प्रकार कुछ निराला है। उस भिखारी का अगर हमारी दयावृत्ति पर विश्वास न होता तो वह हमारे सामने ऐसा प्रदर्शन न करता। अहिंसक प्रतीकार में अगर जबरदस्ती और बलप्रयोग होता भी है, तो उसका आधार मनुष्य की सद्वृत्ति पर होता है और उसकी सफलता भी सद्वृत्ति के जागृत होने पर ही निर्भर करती है, जहाँ हिंसक प्रतीकार मनुष्य की भयवृत्ति पर आधार रखता है और उसी को जागृत करके सफलता पाता है। क्या हिंसक और अहिंसक बलप्रयोग में यह जमीन-आसमान का अंतर नहीं है ?

बहिष्कार और असहयोग में प्रतिपक्षी को जो असुविधा या तकलीफ होती है उसमें उसके दिल में डर या दब्बूपन की भावना नहीं पैदा होती। हिंसक बलप्रयोग में तो वह हमेशा अपने प्राणों या सम्पत्ति के नाश के भय से ही आत्मसमर्पण कर देता है। इसलिए वहाँ किसी उदार भावना के जागृत होने की गुंजाइश ही नहीं रहती। दूसरे यह कि असहयोगी या बहिष्कारकर्ता स्वयं सारी सुख-सुविधाएँ और अधिकार त्याग करके असुविधा और कष्ट सहता है। इसलिए वह अपने प्रतिपक्षी को दण्डप्रयोग से परास्त नहीं करता, वरन् अपने त्याग और तितिक्षा की श्रेष्ठता से करता है।

सारांश, अहिंसक प्रतीकार में जहाँ अनजाने या अपरिहार्य रूप से जबरदस्ती दाखिल हो जाती है, वहाँ भी वह हिंसक जबरदस्ती की अपेक्षा उभय पक्ष के लिए अधिक उपकारक और उद्धारक होती है।

अहिंसक अत्याचारी को अपने प्रतिपक्षी को मारने की या उसे चोट पहुँचाने की इच्छा बिलकुल छोड़ देनी पड़ती हैं। उसे यह आत्मविश्वास होना चाहिए कि या तो वह अपने प्रतिपक्षी को लज्जित करेगा या उसके दिल को पिघला सकेगा। यानी अधिक-से-अधिक वह सामनेवाले की शिष्टता और सहानुभूति का अनुचित लाभ उठाने तक ही उतर सकता है। अहिंसक बलप्रयोग से हार कर जो अपनी टेक छोड़ देता है, वह भी दया या शर्म के कारण ही छोड़ता है। इसलिए अहिंसक बलप्रयोग के खिलाफ अधिक-से-अधिक इतना कहा जा सकता है कि वह अपने प्रतिपक्षी को हैरान करता है। लेकिन हिंसक बलप्रयोग तो प्रत्यक्ष आघात और हानि पहुँचाता है और उसके पौरुष पर ही प्रहार करने की चेष्टा करता है। दोनों में यह मौलिक भेद है।

२७-५-१९४१

११. कसौटी का क्षण

एक तरुण अध्ययनशील मित्र ने पूछा, "अगर हम अपने देश में अहिंसक व्यवस्था कायम कर दें, तलवार को मोड़ कर उसका हंसिया बना लें, फौज को बरखास्त कर दें, तो आज की दुनिया में हमारी कुशल नहीं है। चारों तरफ हथियारों से लैस राष्ट्र घेरा डाले हुए हैं। वे तो मौके की ही ताक में हैं। जहाँ हमने हथियार फेंके , और वे चारों तरफ से झपटे। पुराने जमाने के ऋषि-मुनियों को भी अपने यज्ञशाला और आश्रमों के रक्षण के लिए धनुर्धारी क्षत्रियों की पनाह खोजनी पड़ती थी। तब हम आज के इस नानाविध शस्त्रास्त्र-प्रचुर युग में अपना स्वत्व कैसे सम्हाल सकेंगे ?"

सुनने में तर्क अकाट्य मालूम होता है, परन्तु इसके पीछे एक तर्क-दोष है। हम यह भूल जाते हैं कि नि:शस्त्रीकरण एक चीज है, शस्त्र-संन्यास दूसरी चीज है और अहिंसा बिलकुल तीसरी चीज है। नि:शस्त्रीकरण दो तरह का हो सकता है। एक तो जबरदस्ती का और दूसरा अपनी मर्जी का। जब जबरदस्ती से हथियार छिन जाते हैं, तब जो नि:शस्त्रीकरण होता है, उससे राष्ट्र के पौरुष की हानि होती है। अंग्रेजों ने भारत का जो नि:शस्त्रीकरण किया, उसे गांधीजी ने Emasculation of a whole Nation— एक समूचे राष्ट्र को निर्वीर्य कर देना— कहा था। जागतिक युद्ध के बाद जर्मनी का जो नि:शस्त्रीकरण हुआ, उसमें भी वीर-वृत्ति की क्षति हुई। इस तरह के नि:शस्त्रीकरण से शस्त्र-धारण करने की आकांक्षा पैदा होती है। इस आकांक्षा की बदौलत शस्त्रवाद को उत्तेजन मिलता है। यह नि:शस्त्रीकरण एक अत्याचार है और अहिंसा के प्रतिकूल है।

अपनी मर्जी का नि:शस्त्रीकरण कभी-कभी मजबूरी की वजह से हो सकता है।

वह दूसरों की मर्जी के लिए तो नहीं होता, लेकिन फिर भी उसमें एक लाचारी होती है। वह एक प्रकार का आपद्धर्म ही है। उससे कोई कल्याणकारी शक्ति पैदा नहीं होती। विवशता से शन्ति का ह्रास ही होता है। विश्वास तो शस्त्रास्त्रों में ही रह जाता है, लेकिन परिस्थिति से विवश होकर शस्त्र रख देते हैं।

सम्पूर्ण स्वेच्छा से किया हुआ निःशस्त्रीकरण भी हमेशा अहिंसक नहीं होता। सैन्य और शस्त्र एक विशेष समाज-रचना के आवश्यक अंग हैं। जिस समाज-रचना में आर्थिक या जन्मगत विषमता होगी, मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण होगा, प्रभुत्व की भावना बनी रहेगी, उस समाज के धुरीण केवल शस्त्र-संन्यास कर देने से अहिंसक नहीं बन जाते। वे युद्धों के दुष्परिणामों से बचना चाहते हैं; इसलिए सब मिलकर एक सलाह से हथियारों को रुखसत दे देते हैं। लेकिन यदि वे आर्थिक और सामाजिक विषमता का निराकरण नहीं करेंगे, तो निःशस्त्रीकरण को निबाह नहीं सकेंगे। जहाँ विषमता और व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो, लेकिन सामाजिक या सामुदायिक सम्पत्ति का केन्द्रीकरण और संग्रह हो, वहाँ भी हमेशा संरक्षण की आवश्यकता रहेगी। मतलब यह कि जहाँ कहीं व्यक्तिगत या सामुदायिक परिग्रह की वृत्ति होगी, वहाँ परिग्रह की गैल में हिंसा भी आ ही जायेगी।

इसलिए जब हम अहिंसक समाज की बात करते हैं तो सिर्फ शस्त्रहीन समाज की बात नहीं करते। अहिंसक समाज में अस्तेय और अपरिग्रह व्यापक सामाजिक मूल्य बन जाते हैं। ज्यादातर नागरिकों में लोभ और भय नहीं होता। किसी का अन्याय, अत्याचार या आक्रमण सहने के लिए वे तैयार नहीं होते। ऐसे अपरिग्रही व लोभ-भय-मुक्त समाज पर कोई आक्रमण नहीं करेगा और करेगा तो वहाँ से बहुत तथ्यकारक सबक सीखकर लौटेगा।

कोई कहेंगे, "यह सब स्वप्न-दर्शन है।" अब तक था, अब नहीं है।अब तो विश्वशान्ति का पांचजन्य बज चुका है। अमेरिका भी उसे फूँक रहा है और रूस भी उसे फूँक रहा है। निःशस्त्रीकरण के नारों से आसमान गूँज रहा है। अब या तो सभ्यता और संस्कृति अहिंसा के कल्याण-मार्ग पर मुड़ेगी या फिर विनाश के अन्तहीन गर्त की तरफ। बड़ी भयानक मोड़ है।

नेशनल हॉल, पटना-३ ७-११-१९५४

२
धर्म

१. धर्म की प्रतिष्ठा
२. एक शिक्षाप्रद आख्यायिका
३. संप्रदायवाद का शिकार
४. हम चेतें

१. धर्म की प्रतिष्ठा

जब कभी सांप्रदायिक दंगे फूट पड़ते हैं, तब हमेशा धर्म की जयजयकार और उसकी रक्षा के नारों से चारों दिशाएँ निनादित हो उठती हैं। बड़े-बड़े विवेकी आदमी भी कहने लगता है कि "धर्म की रक्षा न होगी तो समाज नष्ट हो जायगा। हमें अपने धर्म की रक्षा के लिए प्राणपण से टूट पड़ना चाहिए। यहाँ हिंसा-अहिंसा का विवेक करना अनावश्यक और बेमतलब का है। जब धर्म ही नहीं रहेगा, तब आपका अहिंसा और दूसरे सारे सद्‌गुण कहाँ रहेंगे ? आखिर समाज का शरीर ही तो उनका आश्रय-स्थान है न ?"

इस विचार-धारा के अनुसार वे गंभीरता से यह सुझाव पेश करते हैं कि हमें धर्म की रक्षा के लिए गुण्डों की एक स्थायी फौज रखनी चाहिए। शांति के दिनों में वे शक्ति-संपादन और शक्ति-संवर्धन किया करें और दंगे के मौके पर धर्म की रक्षा के लिए, आक्रमणकारियों को दुरुस्त किया करें।

जरा सोचिये तो बात जँचती नहीं। जो गुण्डे थोड़े-से रुपयों के लिए निरपराध व्यक्तियों की जान लेने को तैयार हो जाते हैं, उन्हें भला, धर्म से क्या वास्ता है ? वे तो मतलबी होते हैं। गुण्डों का कोई सिद्धांत या धर्म थोड़े ही होता है ? इसलिए, अगर किसी समय उन्हें सारी सत्ता हथियाने का मौका मिला, तो भला वे क्यों चूकेंगे ? वे एक-दूसरे से सुलह करके दोनों संप्रदायों के अमीरों की धन-दौलत लूटने की कोशिश करेंगे।

मतलब, जो लोग धर्म की रक्षा के लिए गुण्डों पर निर्भर रहना चाहते हैं, वे धर्म को तो तजते हैं, लेकिन एक दिन उन्हें अपनी स्वतंत्रता से भी हाथ धोना पड़ेगा। सही तरीका वही है, जो गांधीजी बताते रहे हैं। धर्म की प्रतिष्ठा किसी अवांतर मूल्य पर निर्भर नहीं है। न तो भीम की गदा और न अर्जुन का गाण्डीव यथार्थ रूप से धर्म की रक्षा के साधन हो सकते हैं। भीमसेन और अर्जुन का बाहुबल धर्म के बिना अप्रतिष्ठित और असफल भी हो सकता है। धर्म की प्रतिष्ठा उस पर अवलंबित नहीं है। इसलिए गांधीजी कहते हैं कि बाहुबल के प्रयोग में भी सभ्यता यानी धर्म को दाखिल करो। मगर कृपया धर्म में बाहुबल को दाखिल न करो।

धर्मो रक्षति रक्षितः

कुछ विचक्षण व्यक्ति कहते हैं, "बिना तलवार के धर्म की रक्षा हो ही नहीं सकती। अगर क्षात्रधर्म और क्षात्रतेज न होता, तो धर्म और धार्मिकता इस पृथ्वी तल से कब की उठ जाती। माना कि तलवार की चमक धर्मतेज का फल है, तो भी यह भला कैसे संभव है कि तलवार के बिना ही धर्म की रक्षा हो सके ? 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः' (जहाँ योगेश्वर कृष्ण है) काफी नहीं है; 'यत्र पार्थो धनुर्धरः' (जहाँ धनुर्धर पार्थ

है) भी चाहिए। योगविद्या और धनुर्विद्या दोनों की सम्मिलित शक्ति ही धर्म की प्रतिष्ठा या आधार है।"

वे कहते हैं 'यतो धर्मस्ततो जयः' का भी यही अर्थ है। जहाँ या जिस पक्ष में धर्म होता है, उसी पक्ष की विजय होती है। अन्याय और अधर्म के पक्ष की हार अवश्यंभावी है। जो व्यक्ति न्याय और धर्म की रक्षा के प्रयत्न में रणतीर्थ में वीरगति को प्राप्त होता है, वह हुतात्मा ही समझा जाता है। इसलिए धर्म में हिंसा या शस्त्र-शक्ति का निषेध नहीं है। शर्त केवल इतना ही है कि उनके प्रयोग के पीछे धार्मिक हेतु होना चाहिए।

"अग्नि अपने-आप में अच्छी या बुरी वस्तु नहीं है। कोई उससे शीत-पीड़ितों का शीत-निवारण करेगा और कोई लोगों के घरों में आग लगायेगा। इसमें अग्नि का क्या दोष है ? संसार में कोई शक्ति अपने-आप में भली या बुरी नहीं है। हिंसा भी एक दैवी शक्ति ही है। योजक की बुद्धि और योजना-पद्धति के कारण उसमें गुण या दोष आ जाते हैं।"

यह परंपरागत युक्तिवाद है। दलील कोई नयी नहीं है। लेकिन हेरफेर कर नाना रूपों में बार-बार वही पेश की जाती है। इसलिए उसका विचार करना जरूरी है।

प्रश्न यह है कि क्या यह सिद्धांत सच है कि जहाँ धर्म है, वहाँ जय होती है ? जरा इसका विश्लेषण कीजिये

दो युध्यमान् पक्ष हैं। एक पक्ष का सैन्यबल और शस्त्रबल बिलकुल लाजवाब है। परन्तु यह पक्ष अन्याय और अत्याचार का है। दूसरों के उचित अधिकारों पर आक्रमण करने के उद्देश्य से वह खुराफात कर रहा है। दूसरा पक्ष शस्त्र-विद्या और व्यूह-रचना में इतना पारंगत नहीं है। है तो शूरवीरों का पक्ष; परन्तु कला और युद्ध-नीति में निपुण नहीं है, तो भी अगर वह धर्म और न्याय का पक्ष है, तो हमारे सिद्धांत के अनुसार उसकी विजय ही होनी चाहिए।

अगर यह सिद्धांत सत्य है कि जिधर धर्म और ईश्वर है उस पक्ष की जय अवश्य होगी, तो यह भी मानना होगा कि शस्त्रास्त्र या सेना अपर्याप्त होने पर भी उस पक्ष की जीत ही होगी। कहा जायगा कि नहीं, यह कोई निरपवाद नियम नहीं है, अन्यायी और अत्याचारी के शस्त्रबल का प्रतीकार करने के लिए हमें उसकी बराबरी की शस्त्र-शक्ति का प्रयोग करना होगा। अन्यथा हम उसे पराजित नहीं कर सकेंगे।

सरल भाषा में इसका अर्थ होता है कि बाहुबल बाहुबल से ही परास्त किया जा सकता है। जिसका बाहुबल नाकाफी या कच्चा होगा, उसकी हार होगी। बाहुबल को मात देने के लिए हमें उससे बढ़कर बाहुबल कमाना होगा।

अगर यही है तो फिर धर्म की महिमा क्या रही ? जब बाहुबल को बाहुबल ही जीत सकता है, तब विजय पाने के लिए धर्म की भला क्या जरूरत रह जाती है ?

मतलब यह है कि या तो बाहुबल श्रेष्ठ है या धर्मबल ? बाहुबल के बिना धर्मबल

पंगु है, यह शस्त्रवादियों के तर्क का परिणाम है। क्योंकि वे नहीं मानते कि जिस पक्ष में धर्मबल होगा, उस पक्ष की शस्त्रबल की न्यूनता के बावजूद भी उसकी विजय होगी। बल्कि वे तो यह कहते हैं कि प्रतिपक्षी के शस्त्रबल से बढ़कर शस्त्रबल का अर्जन हमें करना होगा।

अब यदि उनके कथन का यह अर्थ लिया जाय कि शस्त्रबल की अपेक्षा धर्मबल ही श्रेष्ठ है, तो हम यह पूछना चाहेंगे कि फिर शस्त्रबल की कौन-सी जरूरत रह जाती है ? अगर धर्म की सहायता से अल्प शस्त्रबल अधिक शस्त्रबल को विजय कर सकता है, तो केवल धर्मबल यानी शस्त्रबल-विहीन धर्म-तेज की फतह होने में कौन-सी असंगति है ?

सारांश, 'धर्मो रक्षति रक्षितः' का यह अर्थ करना कि जिसकी गदा हो, न्याय उसीका होगा, धर्म को भैंस-बराबर समझना है। 'जिसकी लाठी, उसकी भैंस भले ही हो सके, लेकिन 'जिसकी तलवार उसका न्याय' हरगिज नहीं हो सकता। यहाँ न्याय या धर्म के रक्षण का अर्थ उसका आचरण है। धर्म की रक्षा अगर हम अपने जीवन द्वारा करेंगे, तो वह भी हमारी त्रुटियों की पूर्ति करेगा और हमारी रक्षा करेगा।

२७-५-१९४१

२. एक शिक्षाप्रद आख्यायिका

पिछले दिनों महाराष्ट्र के सुविख्यात उपन्यासकार और निबंध-लेखक श्री वामन मल्हार जोशी का वर्धा में एक बड़ा ही सार-गर्भित सम्भाषण हुआ। श्री जोशी अपनी तरुणाई में स्वदेश और 'वन्दे मातरम्' के आन्दोलन के सिलसिले में कठिन कारावास की सजा भुगत चुके हैं। उस दिन उन्होंने अपनी जेलयात्रा के कुछ रोचक और उद्‌बोधक अनुभव सुनाये। उनमें से एक प्रसंग की मेरे मन पर गहरी छाप पड़ी है। प्रसंग इस प्रकार है—

श्री वामनराव जोशी को कठोर कारावास का दण्ड दिया गया था। उनसे काम लेने के लिए और उन पर निगरानी रखने के लिए एक पठान नम्बरदार था। उनकी चर्या बड़ी क्रूर, शरीर भारी-भरकम और बर्ताव एकदम प्राकृत था। न वह वामनराव की भाषा समझता था, न वामनराव उसकी भाषा समझते थे। दोनों ने अपनी एक व्यवहारोपयोगी राष्ट्रभाषा बना ली थी, जिसमें शब्दों की अपेक्षा इशारों और संकेतों की अधिकता होती थी। इसी राष्ट्रभाषा में वे कुछ शास्त्रार्थ और धर्म-चर्चा भी कर लिया करते थे। इस चर्चा में वे कट्टर मुसलमान हिन्दू-धर्म और उसके काफिर अनुयायियों को जीभर के गालियाँ दे लेता था। केवल बुद्धिवादी वामनराव को उस बल-प्रयोगवादी पठान की

मुठमर्दी के सामने हार मान लेनी पड़ती थी।

लेकिन इन दोनों के बन्दी-जीवन का एक दूसरा नितांत मधुर और अत्यन्त उदात्त पहलू भी था। वामनराव को चक्की का काम दिया गया था। शुरू-शुरू में बेचारे काम करते-करते अधमरे से हो जाते थे। इस नम्बरदार से यह देखा नहीं जाता था। अनुकम्पा से उसका हृदय पिघल जाता था। वह वामनराव को चक्की से उठा देता और स्वयं उनका सारा काम पूरा कर देता। वामनराव की आत्मा उसे दुआ देती थी।

वह विकराल आकार का पठान रोजे रखता था। रोजे के दिनों में भी वामनराव के साथ उसका यही सलूक रहता था। रोजे के दिनों में उसे गेहूँ की रोटियाँ मिला करती थीं और वामनराव को वही जवारी की रोटी। लेकिन यह अनाड़ी और उद्दण्ड पठान जबरदस्ती अपनी रोटियाँ वामनराव को दे देता और कहता, 'तुम्हें ये मोटी रोटियाँ खाते देख कर मेरा जी दुखता है, तुम नाजुक हो; मैं तगड़ा हूँ। तुम्हारी रोटियाँ मैं खा लूँगा, तुम इन्हें ले लो।'

कितना शिक्षाप्रद, कितना उन्नतिकारक, कितना मधुर अनुभव है यह। धर्म की बहस छिड़ते ही जो पठान त्योरियाँ चढ़ा लेता था। और अनाप-शनाप बकने लगता था, उसीके हृदय में कितनी करुणा, कितनी सहृदयता थी। मनुष्य मात्र के हृदय में बसनेवाली करुणा के रूप में ही क्या हमें करुणाघन की कृपा का साक्षात्कार नहीं होता ? जब मनुष्य संकटग्रस्त होता है, उस समय हिन्दू-मुसलिम, पारसी, ईसाई जैसे कृत्रिम भेद काफूर हो जाते हैं, हिन्दू नाम से भी घृणा करनेवाले पठान के हृदय में से मानवीय करुणापीयूष का दैवी स्रोत उमड़ पड़ता है और धर्म के कृत्रिम बाँध को तोड़ती हुई यह सुरसरिता अप्रतिहत वेग से प्रवाहित होती है। कहाँ उस पठान का शास्त्रार्थ के वक्त प्रकट होनेवाला वह मानव-द्रोही धर्माभिमान और कहाँ उसीका यह मानवोचित, सभ्य और शुभ व्यवहार।

१४-२-१९४१

३. सम्प्रदायवाद का शिकार

स्त्री के संरक्षण की समस्या

राष्ट्रीय, धार्मिक और साम्प्रदायिक विग्रहों की सबसे बड़ी समस्या स्त्रियों के अपहरण की और उन पर होनेवाले अत्याचारों की है। कनक और कामिनी वासना तथा आक्रमण के प्रधान विषय रहे हैं। व्यक्तिगत कलहों में इन्हीं दोनों के अपहरण पर सारा जोर रहता है। आज, जब कि जनतंत्र का युग है और स्त्री को पुरुष के साथ बराबरी

का नागरिकत्व प्राप्त हो गया है, ऐसी अवस्था में भी दो जमातों, सम्प्रदायों और राष्ट्रों के बीच स्त्रियों के अपहरण और उनके रक्षण का प्रश्न कलह का मूल रहा है। सारे संसार में क्रांति के द्वारा एक अभिनव युग का आरम्भ करने की जिन्हें चिन्ता है, उन लोगों के लिए इस प्रश्न का मूलग्राही अध्ययन और विचार करना अनिवार्य हो गया है।

यहाँ केवल इस प्रश्न के एक ही पहलू का विचार किया जा सकता है। स्त्री और पुरुष की सामाजिक भूमिका में अनादि परम्परा से जो मूलभूत भेद रहा है, उसीके फलस्वरूप जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में और भिन्न-भिन्न अवसरों पर नानाविध समस्याएँ उपस्थित होती हैं।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध केवल व्यक्तिगत नहीं है। वह जातीय, कौटुम्बिक और साम्प्रदायिक भी है, वह अनेकविध है और अनेकरूप है। उसके कुछ पहलुओं का किंचित् दिग्दर्शन कराने के लिए एक प्रसङ्ग का उल्लेख करता हूँ :

कौन भला

अंग्रेजों के राज्यकाल में अक्सर यह चर्चा छिड़ जाती थी कि अंग्रेज ज्यादा बुरे हैं या मुसलमान ज्यादा बुरे थे। ऐसी ही चर्चा के सिलसिले में एक दफा एक हिंदुत्ववादी मित्र बोल उठे कि हम मुसलमानों से अंग्रेजों को कई गुना अच्छा समझते हैं, क्योंकि अंग्रेज सिर्फ हमारी दमड़ी माँगता है, वह हमारी चमड़ी का लोलुप नहीं है। अंग्रेज हमारी औरतें नहीं भगाता। मुसलमान हमें लूटता भी है और हमारी स्त्रियाँ भी ले जाता है।

साम्प्रदायिकों की दृष्टि में स्त्री की हैसियत

उसकी बात ने मेरे दिमाग में गम्भीर विचार-चक्र शुरू कर दिये। मैं फिर से जातिवाद और सम्प्रदायवाद के भेद की मीमांसा मन ही मन करने लगा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्प्रदायवाद और जातिवाद की वृत्ति स्त्रियों के अपहरण के विषय में भी बहुत ही व्यामिश्र और पेंचदार रही है। संप्रदायवादी हमेशा यह चाहता है कि उसके सम्प्रदाय में अधिक से अधिक स्त्रियाँ शामिल हों। अपने सम्प्रदाय में आनेवाली स्त्री को वह अपनी धर्मपत्नी बनाने के लिए भी तैयार रहता है, बल्कि उत्सुक भी रहता है। जातिवादी व्यक्ति अन्य जाति की स्त्री को बिगाड़ भले ही दे, लेकिन उसे अपने कुटुम्ब में दाखिल करने को तैयार नहीं रहता। अन्य जातीय स्त्रियों से वह शरीर-सम्बन्ध भले ही कर ले, परन्तु विवाह क्वचित् ही करता है।

जातीयवादी की दृष्टि में

इस दृष्टि से गोरी और काली जातियों के वैवाहिक सम्बन्धों का अध्ययन करना उद्बोधक और रोचक होगा। कई भारतीय पुरुषों की गोरी स्त्रियाँ हैं। लेकिन काली स्त्रियों के साथ विवाह करनेवाले गोरे पुरुषों की संख्या इतनी कम है कि वे उँगलियों पर गिने

जा सकते हैं। थियॉसॉफिकल सोसायटी के श्री जार्ज अरूंडेल, कोटगढ़ (शिमला) के एस० ई० स्टोक्स्, डॉ० व्हेरियर एलविन जैसे कुछ गोरे पुरुषों ने काली स्त्रियों से विवाह किया है, लेकिन ये उदाहरण अपवादभूत हैं। हमारे देश में अपने-आप को उच्च जाति के समझनेवाले ब्राह्मण कभी-कभी अन्य ब्राह्मणों के घर अपनी बेटी तो ब्याह देते हैं, लेकिन उनकी बेटी को अपने घर लाने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि वे नहीं चाहते कि उनके घर में इस प्रकार की कोई स्त्री आकर कौटुम्बिक श्रेष्ठता की परम्परा खण्डित करे।

जातिवाद और सम्प्रदायवाद का मेल

मैंने अपने हिन्दुत्ववादी मित्र से कहा : मुसलमान अगर स्त्रियों को भगाता है तो कम से कम वह हमको अपनी बराबरी का तो समझता है, क्योंकि जिस स्त्री को वह भगाता है, उससे निकाह करने के लिए भी तैयार रहता है। अंग्रेज उस स्त्री को भगाने योग्य भी नहीं मानता। ठीक उसी तरह, जिस तरह कि एक कुलीन ब्राह्मण या कुलीन क्षत्रिय अस्पृश्य-स्त्री को भगाने के लायक भी नहीं मानता। अंग्रेज पादरी काली स्त्रियों को ईसाई बनाने के लिए हमेशा तत्पर रहता है, लेकिन वह भी उसे अपने वंश में प्रवेश देने से इनकार करेगा। उसकी साम्प्रदायिकता उसे दूसरों को अपने सम्प्रदाय में लाने के लिए प्रेरित करती है, लेकिन उसकी जातीयता उन दूसरे लोगों को अपने कुटुम्ब में दाखिल करने में उसे प्रतिबन्ध करती है। इसलिए ईसाइयों में काले ईसाइयों और गोरे ईसाइयों के अलग-अलग तबके बन जाते हैं। जातीयता में रक्तशुद्धि का आग्रह होता है और साम्प्रदायिकता में संख्या की अभिवृद्धि की आकांक्षा होती है। यही कारण है कि जातिवाद अनाक्रमणशील प्रतीत होता है और सम्प्रदायवाद स्वभाव से ही आक्रमणशील जान पड़ता है।

जाति-धर्म की कट्टरता

कुलमर्यादा और जातिमर्यादा की गति और गतिविधि बड़ी गहन और विचित्र है। कुलमर्यादा को माननेवाले लोग दूसरों के यहाँ अपनी बेटी देना अपनी मानमर्यादा के प्रतिकूल मानते हैं, क्योंकि बेटीवाले का सिर हमेशा नीचे होता है। इसलिए जिसकी बेटी हमारे घर में आयी हो, उसके घर अपनी बेटी ब्याहना हम अपनी मर्यादा के प्रतिकूल मानते हैं। कहते हैं, जिसने हमारे पैर धोये, क्या हम अब उसके पैर धोयेंगे ? लड़की लेने में कोई हानि नहीं, लड़की देने में हानि है। 'कन्यारत्नं दुष्कुलादपि' लिया जा सकता है। 'परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय।' परन्तु यह नियम स्वजाति तक ही सीमित है, अन्य जाति के लिए वह लागू नहीं है। जाति-धर्म का निरूपण करनेवाली पुरानी स्मृतियाँ अनुलोम और प्रतिलोभ विवाह का विधान तो करती हैं, परन्तु अनुलोम विवाह से भी जो प्रजा पैदा हुई हो, उसे पिता की जाति में स्थान नहीं मिलता।

सारांश यह कि जातिमर्यादा अन्य जातीय स्त्री को अपनी जाति में दाखिल करा लेने के प्रतिकूल है। यही कारण है कि अपने-आप को श्रेष्ठ माननेवाले बहुत से अतिब्राह्मण अपने से कुछ निकृष्ट ब्राह्मणों के घर अपनी लड़की भले ही ब्याह दें, लेकिन उनकी लड़की अपने घर में नहीं लायेंगे।

सम्प्रदायवादी गिरोहों में दूसरे गिरोहों की स्त्रियों को अपने सम्प्रदाय में येनकेन-प्रकारेण लाने की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसकी बुनियाद भी स्त्री की परंपरागत भूमिका में है।

स्त्री का वैशिष्ट्य

उस दिन हैदराबाद के सर्वोदय-शिविर में मराठवाड़ा के मुरब्बी कांग्रेसी नेता श्री गुलाबचंद नागोरी ने एक बड़ी मार्मिक बात कही। कहने लगे कि एक बात में स्त्रियों की श्रेष्ठता अहंकारी से अहंकारी पुरुष को भी माननी पड़ेगी। मान लीजिये कि किसी देश में स्त्री-पुरुषों का कत्लेआम हुआ। बड़ी मुश्किल से एक पुरुष जिंदा रह गया, तो फिर से उस देश में प्रजा उत्पन्न होने की कोई आशा नहीं रहेगी। लेकिन कुरुक्षेत्र में जिस तरह घंटे के नीचे एक चिड़िया बची रह गयी, उसी तरह संयोगवश कहीं पुरुष के बदले एक स्त्री ही जीवित रह जाय तो उसके गर्भवती होने की संभावना हो सकती है, जो पुरुष के बारे में सुतराम् अकल्पनीय है। भारतीय युद्ध के पश्चात् जिस प्रकार गर्भवती उत्तरा सन्तानपरम्परा अविच्छिन्न रख सकी थी, उसी प्रकार की सम्भावना हर स्त्री के विषय में रह सकती है।

समस्या का हल : धर्मान्तर के सख्त निषेध में ही

हमारे वृद्ध मित्र की विनोद-भरी बात में एक वस्तुगत-तथ्य निहित है। इसीलिए सम्प्रदाय-प्रचारक दूसरे संप्रदायों के पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अपने सम्प्रदाय में लाना अधिक उपयोगी समझते हैं। एक स्त्री के आते ही उनकी सारी सन्तान अपने-आप पिता के सम्प्रदाय की बन जाती है। सम्प्रदायवादी जमातों में स्त्रियों के अपहरण की या उनको फुसलाने की जो प्रवृत्ति पायी जाती है, उसकी जड़ें इतनी गहरी हैं। इस प्रवृत्ति का निर्मूलन केवल कागजी समझौतों और इकरारनामों से नहीं हो सकेगा। उसके लिए सम्प्रदायवाद का ही अन्त करना होगा। जब तक धर्मान्तर को अनुज्ञा रहेगी, तब तक सम्प्रदायवाद का बीज बना ही रहेगा। इसीलिए सर्वोदय के पिछले अंक में यह उपाय सुझाया था कि किसी भी शर्त पर और किसी भी कारण से धर्म-परिवर्तन की सख्त मुमानियत होनी चाहिए। इस मर्ज की और कोई दवा नहीं है।

ता० ७-६-१९५०

४. हम चेतें

क्या यह बवंडर है

भारत के विधि-मंत्री विद्वद्वर डॉ० बाबासाहब आंबेडकर ने वर्षों बाद फिर एक बार धर्म-परिवर्तन की गर्भित सूचना कर दी है। हिन्दू-समाज में फिर से कुछ हल्की-सी खलबली मच गयी है। कुछ लोग कहते हैं कि आंबेडकर साहब आयेदिन ऐसी धौंस दिया ही करते हैं। हमने जरा उनके हिन्दू कोड का विरोध किया और उन्होंने हमें धमकियाँ देना शुरू कर दिया। अपना काम बना लेने की यह एक सिफत है। हम युक्ति-प्रवीण आंबेडकर साहब के झाँसे में आनेवाले नहीं हैं।

दलित मानव के अभिभावक का क्षोभ

दूसरे कुछ लोग इसे नहीं मानते। वे कहते हैं कि कानून बनाने के बाद भी अछूतों के हिन्दू समाज के साथ त्वरित एकरस हो जाने के लक्षण दिखायी नहीं देते। इसलिए अधीर होकर और तंग आकर आंबेडकर जैसे दलित मानव के अभिभावक अपने मन का क्षोभ प्रकट करते हैं।

जो हो, हमें तो इस बात का सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से विचार करके इस बीमारी को जड़-मूल से खतम करनेवाली उपाय-योजना करनी चाहिए। बात यह है कि जब तक जातिभेद रहेगा तब तक हिन्दुत्व का स्वरूप निषेधात्मक ही रहेगा। जातियों की बनी हुई कन्था को जब दूसरे समाजों के मुकाबले में रखा जायगा तब लोग उसे एक पुंज के रूप में देख सकेंगे। लेकिन जहाँ मुकाबला खतम होगा, हिन्दुत्व भी बिखर जायगा।

जाति प्रथा : एक अभिशाप

जब तक जाति-भेद रहेगा, यानी जन्मगत प्रतिष्ठा का भाव रहेगा, तब तक निचली जाति के लोगों के लिए जाति में रहना लाभकारी नहीं होगा। इसलिए जाति से छुटकारा पाने की कोई न कोई तरकीब खोजते रहेंगे। सबसे सुलभ मार्ग यही है कि जाति-बद्ध समाज का त्याग कर दिया जाय। इसलिए जब तक जाति रहेगी, तब तक हिन्दू समाज में धर्म-परिवर्तन की भावना भी बराबर बनी रहेगी। केवल कानून से धर्म-परिवर्तन की मुमानियत कर देना काफी नहीं होगा। कानून के पीछे जनता का अनुमोदन भी चाहिए। हिन्दू समाज में से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति का अंत तभी होगा, जब कि उसकी आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

डॉ० अंबेडकर साहब को भला-बुरा कहने से या अस्पृश्यों को नाम रखने से इस समस्या का समाधान नहीं होगा। जाति-संस्था के कारण ही भारत में सम्प्रदायवाद इतना उग्र और अजस्र रूप धारण कर सका है। अतः देर से ही क्यों न हो, हमें चेत जाना चाहिए।

ता. ९-५-१९५०

३

आर्थिक संयोजन

१. भूख और क्रान्ति
२. सम्पत्ति-दान-यज्ञ का सर्वस्पर्शी स्वरूप
३. प्रतिमूल्य की समस्या
४. दुकानदारी, मकानदारी और ईमानदारी
५. अवमूल्यन की समस्या
६. वर्ग निराकरण की प्रक्रिया
७. विनोबा का कल्याणकारी उपक्रम
८. पंचवार्षिक योजना
९. विनोबा का बीजगणित

१. भूख और क्रान्ति

२८ सितंबर १९४० को बंबई में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का ८वाँ अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन के अपने अभिभाषण में डॉ० सुरेशचंद्र बनर्जी ने कई मार्मिक बातें कहीं। उनमें से निम्नलिखित भी एक है :

"मैंने यह पाया कि अधिकांश लोगों को कल की क्रांति की अपेक्षा आज की रोटी की चिन्ता ज्यादा सताती है। अधिकांश मजदूरों को अपनी नौकरी गँवा देने का डर इतना जबरदस्त होता था कि पहले वे कितने ही निडर और बहादुर रहे हों, हड़ताल (स्ट्राइक) खतम होने के बाद उनमें से बहुत थोड़े ट्रेड यूनियन के दफ्तर के नजदीक आने की हिम्मत करते थे। इस तरह के अनुभव साल में कई बार हुए। तब मैं गंभीरता से सोच-विचार करने लगा कि क्या दरअसल हड़ताल (स्ट्राइक) ही हमारा पहला और आखिरी हथियार है, या हड़ताल से पहले समझौते की कोशिश करना भी उचित है।"

मजदूरों के एक प्रामाणिक सेवक के ये अनुभव-वचन हैं। यही बात पुराने जमाने के किसी मनीषी ने 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्,' इस वाक्य में कही थी। भूख क्रांति पैदा कर सकती है, लेकिन उसकी भी खास शर्तें हैं। उनमें से सबसे बड़ी शर्त तो यह है कि जो भूखे और नंगे हैं, उन्हें रोटी की अपेक्षा सिद्धांत अधिक प्यारा होना चाहिए। उनकी नैतिक स्थिति कम-से-कम इतनी ऊँची तो होनी ही चाहिए कि वे सिद्धांत के लिए पेट और प्राण दोनों कुरबान करने को तैयार हो सकें।

परंतु जब रोटियों के लाले पड़ते हैं तब कोई सिद्धांत नहीं सूझता। 'मनुष्य सिर्फ रोटी पर ही नहीं जीता, यह सही है; मगर साथ-साथ यह भी सही है कि वह रोटी के बिना नहीं जी सकता। इसीलिए भूख में से मुहताजी और भीख भी पैदा हो जाती है। स्वाभिमान और आत्म-मर्यादा तो भूखों और नंगों को छू तक नहीं जाती। उनके लिए तो 'अन्न ही ब्रह्म' है, रोटी ही ईश्वर की सबसे श्रेष्ठ विभूति है। इसीलिए गांधीजी हमेशा कहा करते हैं कि दरिद्रों की दरिद्रता, दुखियों का दुःख, बेकारों की बेकारी और भूखों का भुखमरापन बढ़ाने से क्रांति नजदीक आयेगी, यह विचार भ्रमपूर्ण है।

२४-१०-१९४०

२. सम्पत्ति-दान-यज्ञ का सर्वस्पर्शी स्वरूप

भूदान का तात्पर्य

विनोबा के आंदोलन में महावाक्यों की तरह दो मन्त्रों का बार-बार उच्चारण

किया जाता है। एक है, "सबै भूमि गोपाल की" और दूसरा, "सब सम्पत्ति रघुपति कै आही" भूमिदान-यज्ञ आन्दोलन का सम्बन्ध पहले महाकाव्य से है। भूमि भगवान् की बनायी हुई है, वह सृष्टि की एक विभूति है, इसलिए उस पर मनुष्य का स्वामित्व नहीं होना चाहिए। अन्न उपजाने के लिए जो उस पर पुरुषार्थ कर सकता है, उसे उत्पादन का अधिकार मिलना चाहिए। अनुत्पादक का अधिकार जड़मूल से खतम होना चाहिए। भूमि-दान-यज्ञ आंदोलन का थोड़े में यह तात्पर्य है।

पुण्यमय आयोजन

परन्तु जो सम्पत्ति श्रम से पैदा होती है, उस पर स्वामित्व किसका हो, यह प्रश्न फिर भी बाकी रह जाता है। जो जितनी सम्पत्ति का उत्पादन करता है, उस सब पर या उतनी ही पर क्या उसका अधिकार होगा ? यदि ऐसा होगा तो वर्ग-निराकरण होने पर भी आर्थिक असमानता का निराकरण नहीं हो सकेगा। इसलिए विनोबा ने सम्पत्ति-दान-यज्ञ का पुण्यमय आयोजन किया है।

भूमिदान जिस प्रकार गरीब और अमीर, सबके लिए है, उसी प्रकार सम्पत्ति-दान-यज्ञ भी गरीब और अमीर सबके लिए है। जिसके पास प्रचुरता है और वैभव है, वह अपने वैभव के विसर्जन के लिए सम्पत्ति-दान करे, और जिसके पास अभाव है, वह अपने अभाव में ही सारे समाज को शामिल करे। विनोबा ने तो यहाँ तक कहा कि जो भूखा है, वह अपनी भूख का भी हमें दान करे। यह केवल शब्दालंकार नहीं है। उनकी यह माँग, उनके आन्दोलन के पीछे जो व्यापक दर्शन है, उसकी द्योतक है।

दुःख-दारिद्र्य में भी हिस्सा

विद्यार्थी-दशा में पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी हुई एक कहानी यहाँ याद आती है। एक मछुआ एक अत्यन्त दुर्लभ जाति की मछली लेकर राजमहल के महाद्वार पर पहुँचा। दरबान ने उसे रोका। मछुआ गिड़गिड़ाने लगा। दरबान ने कहा, मछली अनोखी है। किस्मत से ही कभी मयस्सर होती है। तुम्हारे तो भाग खुल गये। जो कुछ दाम मिले, उनमें से आधे मुझे दोगे तो भीतर जाने दूँगा। मछुए ने वादा किया और भीतर गया।

मछली देखकर राजा निहायत खुश हुआ। मछुए से कहा, मनमाने दाम माँग लो। मछुआ बोला, महाराज! नंगी पीठ पर सौ कोड़ों की माँग है, और कुछ मुराद नहीं! राजा दंग रह गया। उसके अचरज का ठिकाना नहीं रहा। पूछा, क्या यह मछुआ बौरा गया है ? मछुए ने कहा, महाराज! गरीब की इतनी तमन्ना पूरी हो। राजा ने सिपाही से कहा, 'इसे धीरे-धीरे सौ कोड़े लगाओ।' पचास तक गिनती पहुँचते ही मछुआ चिल्ला उठा— ठहरो, ठहरो! इस सौदे में मेरा एक हिस्सेदार भी है।

राजा और भी ताज्जुब में डूब गया। पूछा, कौन तुम्हारा साझेदार है ? मछुआ बोला, महाराज आपके महल का पहरुआ। मछुए ने सारा हाल सुनाया। राजा के क्रोध

का पारावार नहीं रहा, दरबान को बुलाया गया और कसकर सौ कोड़े उसकी नंगी पीठ पर मारे गये।

सम्पत्तिदान-यज्ञ : एक प्रक्रिया

विनोबा के संपत्तिदान-यज्ञ का एक पहलू यह भी है। वे दलित और दरिद्री मानव के दुःख, दारिद्र्य और बेकारी में भी सहभागी होना चाहते हैं। जब बेकारी बँटेगी, तभी तो काम भी बँटेगा! जो बिलकुल श्रम नहीं करते और कौटुम्बिक अधिकार से या परम्परा से साधनसम्पन्न हैं, उन सबकी सम्पत्ति को विनोबा ने विपत्ति की उपाधि दी है। अनुत्पादकों की सम्पत्ति का सम्पूर्ण विसर्जन और अनुत्पादक व्यवसायों का विसर्जन सम्पत्ति-दान-यज्ञ का लक्ष्य है। इसलिए उन्होंने सम्पत्ति-दान-यज्ञ के लिए यह शर्त रखी है कि सम्पत्ति के जिस अंश का दान होगा, वह विनोबा के निर्देश के अनुसार खर्च किया जायगा। इस शर्त में उनके आन्दोलन की पकड़ है। वे कहते हैं कि "इस शर्त के द्वारा सम्पत्तिवालों के जीवन में मेरा चंचु-प्रवेश होता है। पहले मैं उससे सम्पत्तिदान का संकल्प कराऊँगा और उसके पश्चात् तुरन्त साधन-शुद्धि का आग्रह रखूँगा। सम्पत्ति के उपार्जन के उसके जो साधन और मार्ग होंगे, उनका भी शुद्धिकरण दाता को करना होगा।" इस तरह यह सम्पत्तिदान-यज्ञ भी एक प्रसंग नहीं, बल्कि एक प्रक्रिया है, जो शीघ्र-से-शीघ्र संपत्ति के विसर्जन का वातावरण बनाने में सफल होगी।

संग्रह पाप और सम्पत्तिदान प्रायश्चित्त

आज तो वे इतना ही कहते हैं कि जिस किसीके पास थोड़ा या बहुत संग्रह है, वह उसका एक अंश, यथासम्भव षष्ठांश सम्पत्ति दान में देना शुरू कर दे। अभिप्राय यह है कि वह अपने-आप को उस संग्रह का मालिक न समझे, संरक्षक समझे। उसके पास जो संग्रह हो गया है, वह असल में उपयुक्त नहीं इसलिए उस संग्रह को बढ़ाना नहीं है, वरन् जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी खतम कर लेना है। संग्रह का विसर्जन अपरिग्रही समाज की स्थापना के लिए है। सम्पत्तिदान में यदि इस मूलभूत तत्त्व का विचार न किया गया, तो क्रांति की प्रक्रिया में उसका कोई स्थान नहीं रह सकता।

संग्रह पाप है और सम्पत्तिदान उस पाप का प्रायश्चित्त है। जो संग्रह अनुत्पादक और अनुपयुक्त व्यवसायों के द्वारा किया गया है, उसे यदि पापपुंज कहा जाय, तो वह कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अनुत्पादक व्यवसाय दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं। एक वे, जो मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक दोषों पर चलते हैं, जैसे बीमारी पर चलनेवाले, गुनाहों पर चलनेवाले और व्यसनों पर चलनेवाले व्यवसाय। दूसरी श्रेणी में वे व्यवसाय आते हैं, जो ब्याज, किराया ठेका और दलाली पर चलते हैं। जब तक समाज में ये व्यवसाय चलेंगे, तब तक एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के संकट और दोष से लाभ उठाता रहेगा। यही शोषण की जड़ है। इन पेशों और रोजगारों से जो आमदनी होती है, उसका

भी एक अंश विनोबा को लोग देना चाहेंगे। लेकिन एक तरफ वे अपनी कमाई बढ़ाते रहें और दूसरी तरफ विनोबा को द्रव्यदान देते रहें, तो उनके उस दान से न तो उनकी अपनी नैतिक उन्नति होगी और न समाज-कल्याण ही होगा। होना यह चाहिए कि इन व्यवसायों की तरफ से उनका रुख ही बदल जाय और उसकी अभिज्ञा या सहदानी के रूप में वे सम्पत्तिदान करें।

अर्थ-शुचित्व और साधन-शुद्धि

उस दिन विनोबा ने अपने भाषण में कहा कि वे अब अपरिग्रह के अपने व्रत को व्यक्तिगत गुण के रूप में ही नहीं देखना चाहते, बल्कि उसका विकास एक सामाजिक मूल्य के रूप में करना चाहते हैं। व्यक्तिगत गुण का रूपांतर जब सामाजिक मूल्य के रूप में होता है, तब उसमें समाज-क्रांति की शक्ति पैदा होती है। सम्पत्तिदान की परिपूर्ति शीघ्र से शीघ्र समाज-विरोधी तथा अनुत्पादक व्यवसायों के निराकरण में होनी चाहिए। इसलिए विनोबा किसी से एक मुश्त द्रव्यदान नहीं लेते। पाँच साल से कम अवधि के लिए सम्पत्तिदान का संकल्प-पत्र भी स्वीकार नहीं करते। उपयोग की वस्तुओं का दान स्वीकार करने में भी वे यह तरतम भाव और विवेक रखते हैं। उदाहरण के लिए, अफीम या गाँजे का कोई ठेकेदार उन पदार्थों का दान करना चाहे, या अपनी आमदनी का एक हिस्सा तहहयात उनको देना चाहे तो भी वे उसे लेने से इन्कार कर देंगे। उत्पादकों के लिए कोई तमाकू, बीड़ी या सिगरेट का दान-सत्र शुरू कर दे, तो वे उसका विरोध करेंगे। कम-से-कम वे उसे सम्पत्तिदान नहीं कहेंगे। सम्पत्तिदान में अर्थ-शुचित्व और साधन-शुद्धि का अभिप्राय मूलभूत है।

ट्रस्टीशिप का प्रत्यक्षीकरण

गांधीजी द्वारा प्रतिपादित ट्रस्टीशिप के सिद्धांत का व्यापक विनियोग विनोबा संपत्तिदान-यज्ञ के रूप में कर रहे हैं, इसीलिए उन्होंने उसे 'यज्ञ' संज्ञा दी है। यज्ञ में बलिदान होता है, कुर्बानी होती है। दान में और यज्ञ में एक मूलभूत अंतर है। अपनी सारी जरूरतें पूरी तरह से और अपनी सारी इच्छाएँ पर्याप्त मात्रा में पूरी करने पर जो शेष रह जाता है, उसका हम अक्सर दान करते हैं। दान उर्वरित या अतिरिक्त वस्तु का किया जाता है। परन्तु यज्ञ में सर्वस्व की आहुति दी जाती है। चाहे हमारी आवश्यकताएँ पूरी हों या न हों, हम अपनी विपन्नता में से ही यज्ञ में आहुति डालते हैं। नचिकेता के पिता ने विश्वजित् यज्ञ किया। उसके पास सिर्फ क्षीण और शुष्क पयोधरवाली गायें रह गयी थीं। उनका भी उसने दान कर दिया। उसने मरी गाय ब्राह्मण को नहीं दी। जो कुछ था, वह दिया। सम्पन्नता नहीं थी, इसलिए अपनी विपन्नता का ही हविर्भाग दिया। विनोबा कहते हैं, श्रमिको, तुम्हारे पास श्रमशक्ति है, तुम मुझे उसीका दान दो। अपनी शक्ति का तुम दान करोगे, तो तुम्हारी विपन्नता और अभाव, और तुम्हारी दरिद्रता भी

लोकव्यापी बन जायगी, और बँट जायगी। जो तुम्हारे पास है, वह तुम देते हो, तो तुम्हारी जरूरत सब की जरूरत हो जाती है और तुम्हारी मुसीबत सबकी मुसीबत हो जाती है।

सर्वकष और मूलग्राही यज्ञ

इस प्रक्रिया में एक बहुत गहन और मूलगामी अभिसंधि है, हमारे सामाजिक जीवन की तह तक पहुँचनेवाला एक गहरा आशय है। आज समाज में जो श्रमजीवी है और उत्पादक है, वह भी श्रमनिष्ठ नहीं है। उसे परिश्रम और उत्पादन में अभिरुचि नहीं है। और जो अनुत्पादक है, वह तो श्रम से परहेज करता ही है। श्रमनिष्ठा के अभाव में से उत्पादक की सामाजिक प्रेरणा कदापि पैदा नहीं हो सकती। इसलिए विनोबा श्रमिकों को भी सम्पत्तिदान की दीक्षा देते हैं, जो महज मजदूर है और मालिक नहीं है, उसे वे भूदान की प्रक्रिया की मार्फत उत्पादनों के साधनों का मालिक बनाना चाहते हैं। लेकिन साथ-साथ उसे यह दीक्षा भी देना चाहते हैं कि वह अपने परिश्रम से निर्मित वस्तुओं का या अपनी मेहनत की कमाई का मालिक नहीं है। जिस प्रकार करोड़पति और अरबपति, तथा सेठ-साहूकार अपनी सम्पत्ति के परिरक्षक हैं, उसी प्रकार गरीब मजदूर भी अपनी कमाई का मालिक नहीं है, परन्तु परिरक्षक है। इसलिए वह भी सम्पत्तिदान करेगा। इतना ही नहीं, जिस भूमिहीन को भूमि दी जायगी, वह भी जब पहली फसल काटेगा, तो दरिद्रनारायण को भोग चढ़ायेगा। नैवेद्य समर्पण करने में प्रभूत सम्पत्ति और अत्यल्प सम्पत्ति का विचार नहीं किया जाता। लकड़हारा भी अपने गाढ़े पसीने की कमाई में से भगवान् के चरणों में नैवेद्य चढ़ाता है। विनोबा का सम्पत्तिदान-यज्ञ इतना सर्वकष और मूलग्राही है।

सम्पत्तिदान का रूप : आज और कल

इस सम्पत्तिदान-यज्ञ के दो पहलू हैं। जब तक अमीरी और गरीबी का निराकरण नहीं हुआ है, तब तक, और तभी तक के लिए हरएक सम्पत्तिधारी अपने-आप को केवल न्यासरक्षक (ट्रस्टी) समझे। किसी तरह उसके पास जनता की धरोहर इक्ट्ठी हो गयी है। वह उसे सँभालकर शीघ्र से शीघ्र वर्ग-निराकरण की क्रांति के काम में लगा दे। इस प्रकार अमीरों का संपत्तिदान-यज्ञ केवल संक्रमण-काल के लिए है। वह सन्धि-काल का परम धर्म है।

कोई यह न समझे कि हम सभी भले-बुरे उपायों से धन कमाते जायेंगे और विनोबा के सम्पत्तिदान-यज्ञ में अपनी सहूलियत के मुताबिक दान देकर इहलोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति प्राप्त कर लेंगे। पुराने सम्पत्तिदान में मन्दिर बनवाना, घाट बनवाना, धर्मशालाएँ बनवाना, अस्पताल और स्कूल खोल देना इत्यादि-इत्यादि कई तरह के लोक-कल्याणकारी कामों का समावेश होता था। विनोबा का सम्पत्तिदान-यज्ञ केवल लोक-कल्याणकारी आन्दोलन है। वह लोकजीवन में क्रांति करना चाहता

है। इसलिए जिस दिन वह सफल होगा, उस दिन न तो संग्रह के लिए अवसर होगा और न उस प्रकार के दान के लिए अवकाश ही होगा। यह सम्पतिदान असल में भावना और बुद्धि के दान का प्रतीक है। यदि गहराई से सोचा जाय, तो विनोबा जो बुद्धिदान चाहते हैं, वह भी केवल बुद्धिजीवियों का समयदान नहीं है, बल्कि परिग्रह की वृत्ति का विसर्जन ही वास्तव में उसका अभीष्ट है।

सम्पत्तिदान का दूसरा पहलू नित्य धर्म का है। परिश्रम से जो कुछ पैदा होता है, वह सब जनता-जनार्दन का है। व्यक्ति के पुरुषार्थ के लिए समाज में उसे जो सुयोग मिलता है, वह समाज का दिया हुआ बहुत बड़ा वरदान है। इसलिए अपने पुरुषार्थ के प्रयोग से व्यक्ति जो कुछ निर्माण करता है, उस पर उसे समाज की ही सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। उत्पादक का सम्पत्तिदान यज्ञ इस नित्य सामाजिक धर्म का प्रतीक है। अपनी-अपनी आवश्यकता के लिए वह जो कुछ लेता है, वह समाज का प्रसाद है। इस प्रकार वह समाज को अधिक से अधिक देता है और उससे कम से कम लेता है। इस तरह के सम्पत्तिदान-यज्ञ में से श्रमनिष्ठा का विकास होता है। श्रमिक की बुद्धि और भावना में परिवर्तन होता है। विनोबा के श्रमदान-यज्ञ की तरह उनका सम्पत्तिदान-यज्ञ भी बुद्धियुक्त है।

जीवन-संशोधन का संकल्प

अस्तेय और अपरिग्रह के व्रतों की सामाजिक मूल्यों के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा तभी होगी, जब सम्पत्ति और स्वामित्व के प्रति एक बिलकुल नयी वृत्ति छोटे और बड़े मालिकों के तथा गैरमालिक-मजदूरों के चित्त में पैदा होगी। इसके लिए सबसे पहले इस वृत्ति का आविर्भाव और विकास हमारे प्रमुख सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के मन में होना चाहिए। इस देश के निहत्थे लोगों को जब हथियारबन्द फौजों का मुकाबला करना था, तब गांधी ने उन्हें निःशस्त्र वीरता की प्रक्रिया सिखायी। इस प्रक्रिया का मूलभूत सिद्धांत यह है कि हथियार का मुकाबला हथियार से न किया जाय। सामनेवाले के हाथ में अगर हथियार हो तो हमारे मन में भी हथियार नहीं होना चाहिए। गांधी ने हमसे कहा कि "नीति के रूप में ही क्यों न हो, अगर निःशस्त्र प्रतीकार के मार्ग पर चलना चाहते हो, तो हथियार का उपयोग करने की इच्छा सच्चे दिल से छोड़ देनी चाहिए।" इसीलिए हथियारबन्द सिक्ख और हथियारपरस्त पठान चुपचाप हथियारों का प्रतीकार सहते गये, परन्तु उन्होंने अपने हथियारों का प्रयोग नहीं किया। तात्कालिक नीति के अनुसरण में भी सचाई और ईमानदारी की जरूरत होती है।

अहिंसा के लिए जो नियम लागू था, उससे कहीं अधिक मात्रा में वह नियम अस्तेय और अपरिग्रह के लिए लागू है। मालिकी का मोह और मिल्कियत की ममता सिर्फ थोड़ी देर के लिए या नियत अवधि के लिए छोड़ देने से समाज का नक्शा नहीं बदलेगा। स्वामित्व-भावना और सम्पत्ति का लोभ ही जड़मूल से छोड़ देना होगा। सत्याग्रही प्रतीकार की प्रक्रिया की मार्फत गांधीजी ने शस्त्रसत्ता के निराकरण का एक

प्रभावशाली प्रयोग किया। भूदान और सम्पत्तिदान की यज्ञ--रूप प्रक्रिया के द्वारा विनोबा धनसत्ता के निराकरण का सफल प्रयोग कर रहे हैं । तात्कालिक नीति के रूप में अहिंसा का स्वीकार करना उस परिस्थिति में पर्याप्त था। परन्तु यहाँ तो संग्रह का विसर्जन और सम्पत्ति का दान सिद्धान्त के रूप में और नित्य अनुष्ठेय धर्माचरण के रूप में ही स्वीकारना पड़ेगा। यह निष्ठा कार्यकर्ताओं में जिस मात्रा में होगी, उसी मात्रा में हमें सफलता प्राप्त होगी। मुख्य प्रश्न वृत्ति का है और उस वृत्ति के अनुरूप जीवन--संशोधन के संकल्प का है।

३०-९-१९५३

३. प्रतिमूल्य की समस्या

सम्पत्ति-धारण का अधिकार

संविधान परिषद ने निजी जायदाद रखने के अधिकार को भी मूलभूत अधिकारों की तालिका में शामिल किया है। हरएक नागरिक को यह आश्वासन है कि वह जायदाद रख सकेगा और उसका लेनदेन भी कर सकेगा। यह अधिकार अनपहार्य और पवित्र माना गया है। इस सिद्धान्त में से यह उपसिद्धान्त निकला कि जनहित के लिए अगर राज्य किसीकी सम्पत्ति लेना चाहे तो संपत्तिधारी को उसका उचित प्रतिमूल्य या मुआवजा मिलना चाहिए। इस उपसिद्धान्त में से कई तरह की जटिल समस्याएँ और गुत्थियाँ पैदा हो गयी हैं।

जमींदारी की मिसाल

उदाहरण के लिए जमींदारी के मसले को ही ले लीजिये। किसानों की भलाई के लिए और कृषि के संविभाजन के लिए मालगुजारी और जमींदारी प्रथा का अन्त होना नितान्त आवश्यक है। कांग्रेस ने अपने घोषणा--पत्र में यह प्रतिज्ञा भी की है। अब उस प्रतिज्ञा में यह प्रतिमूल्य का सवाल पत्थर की दीवार की तरह विघ्न खड़ा कर रहा है। निजी या कौटुम्बिक संपत्ति का अधिकार सामाजिक विकास के लिए है, न कि उसमें रोड़े अटकाने के लिए । लेकिन आज सामाजिक विकास के रास्ते में वह अधिक से अधिक विघ्नरूप हो रहा है। सवाल यह है कि इस समस्या को किस तरह हल किया जाय।

दो मार्ग

दो ही रास्ते हैं। एक मार्क्सवादियों का और दूसरा सर्वोदय का या गांधीजी का।

तत्त्वतः दोनों में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। लेकिन दोनों की व्यावहारिक नीति में अन्तर दिखाई देता है।

यह 'वदतो व्याघात !'

मजा यह है कि बड़े-बड़े पूँजीवादी और सम्पत्तिमान् लोग भी गांधीवाद की दुहाई देते पाये जाते हैं। वे कहते हैं, 'हमें मार्क्सवाद पसन्द नहीं है। वह तो यंत्र के बेलन की तरह व्यक्तिगत पराक्रम को कुचल डालेगा। गांधीवाद में व्यक्तिगत पराक्रम के लिए अवसर है। इसलिए हम गांधीवादी हैं।'

यह युक्तिवाद सुनकर मुझे शैतान के बाइबिल का हवाला देनेवाली बात याद आती है। सर्वोदय के सिद्धान्त की बुनियाद अस्तेय और अपरिग्रह है। सर्वोदय कहता है, अपनी आवश्यकताओं से अधिक न लो और अपनी जरूरतें भी कम करते चले जाओ। अर्थात् अपनी अल्पतम आवश्यकताओं से अधिक परिग्रह करने का नाम स्तेय है। स्तेय माने चोरी। परिणाम यह निकला कि सर्वोदय के अनुसार भी परिग्रह स्तेय है। जायदाद चोरी है। क्या यह 'प्रॉपर्टी इज थेफ्ट' का ही अनुवाद नहीं है ? इसीलिए कहा कि मार्क्सवादी सूत्र में और सर्वोदय की परिभाषा में तत्त्वतः अन्तर नहीं है।

परिग्रह का परिमार्जन

परिग्रह में दोष है। वह एक सामाजिक अपराध है— सिद्धान्त की दृष्टि से उतना ही बड़ा जितना कि चोरी। अतः उसके परिमार्जन के लिए दान की योजना है। दान अपने में धर्म नहीं है। वह परिग्रह के दोष की निवृत्ति का साधन है। बटोरने, इकट्ठा करने के गुनाह को धोने का जरिया है। अगर दान और जकात की योजना न होती तो परिग्रह नरक का ही द्वार होता। फिर तो सूई के नोक में से ऊँट भले ही चला जाता, लेकिन धनवान भगवान् के राज की सीमा तक भी न पहुँच पाता। आज भी धनवान जिस मात्रा में सचाई के साथ दानवृत्ति को अपनाता है, उसी मात्रा में वह रामराज की तरफ कदम बढ़ाता है। जो धनवान दान को भी अपने वाणिज्य का अंग मान लेता है उसका दान, दान नहीं निरा सौदा है।

पौराणिक दृष्टान्त

पुराने शास्त्रों में राजाओं के लिए राजसूय यज्ञ और अश्वमेध यज्ञ सब से श्रेष्ठ माना गया है और संपत्तिमानों के लिए सर्वस्व दानवाला यज्ञ सब से श्रेष्ठ माना गया है। हरिश्चंद्र ने जब अपने राज का दान दे दिया तो विश्वामित्र ने उसे धन्यवाद देने के बदले दान की पूर्ति के लिए ऊपर से दक्षिणा माँगी। हरिश्चंद्र ने उसे अन्यायी या अत्याचारी नहीं कहा। बल्कि अपने-आप को चांडाल के हाथ बेचकर विश्वामित्र की दक्षिणा चुकायी। सत्यनिष्ठा और अपरिग्रह वृत्ति का यह त्रिकालाबाधित उदाहरण है।

आर्थिक स्थिरता का आश्वासन !

जो प्रश्न हमारे नेताओं को हैरान कर रहा है और हमारी सरकार को बुरी तरह परेशान कर रहा है वह यह है कि अगर निजी संपत्ति का अधिकार सुरक्षित न रखा जाय तो व्यक्तिगत पराक्रम की प्रेरणा किसीको नहीं होगी। संपत्तिमानों को स्थिरता और सुरक्षितता का आश्वासन नहीं मिलेगा, आर्थिक, अनवस्था का प्रसंग उपस्थित होगा। इसका मतलब यह हुआ कि संपत्तिमानों को उनके श्रम का नहीं, बल्कि उनकी सम्पत्ति का प्रतिमूल्य न मिले तो वे व्यक्तिगत पराक्रम के लिए प्रवृत्त नहीं होंगे। अर्थात् वे केवल परिग्रह ही नहीं, अपितु उसका प्रतिफल भी चाहते हैं। और फिर भी गांधीजी के सर्वोदय की दुहाई देने में नहीं हिचकते।

दूकानदारी या मकानदारी

सर्वोदय कोई मुनाफाखोरी या लाभवाद का सिद्धांत नहीं है। वह दूकानदारी का सिद्धान्त नहीं, मकानदारी का सिद्धान्त है। उसकी बुनियाद सौदा नहीं, सेवा है; प्रतिपादन नहीं, समर्पण है। यदि हम सम्पत्ति के व्यक्ति-स्वामित्व की जगह राष्ट्र-स्वामित्व या समाज-स्वामित्व स्थापित न करना चाहते हों तो दूसरा रास्ता यही है कि जो परिग्रहवान हैं वे अपना सारा परिग्रह ब्रह्मार्पण करें। जिनके पास व्यक्तिगत या कौटुम्बिक आवश्यकताओं से अधिक परिग्रह है वे उसका दान स्वयंप्रेरणा से करें। यदि हो सके तो दान की सांगता के लिए ऊपर से कुछ दक्षिणा भी दें। कम-से-कम, प्रतिमूल्य की आशा न रखें।

विशिष्ट जनसत्ता

रामराज का अर्थ है : सर्वजनराज। सर्वजनराज में शिष्ट जनों या विशिष्ट जनों की सत्ता के लिए कोई गुञ्जाइश नहीं। भूमिपतियों की सत्ता विशिष्ट जनसत्ता का एक अवशेष है। इसलिए उस विशिष्ट सत्ता के विसर्जन में भूमिपतियों को स्वयं हाथ बटाना चाहिए। यहाँ सवाल तात्कालिक नीति का नहीं है, सामाजिक शाश्वत मूल्यों की फिर से प्रस्थापना का प्रश्न है। सर्वोदय का यही रास्ता है। नान्यः पंथा विद्यते ऽयनाय। कल्याण का और कोई रास्ता नहीं है।

नयी दिल्ली ६-८-१९४९

४. दूकानदारी, मकानदारी और ईमानदारी

दूकानदारी और ईमानदारी

अभी परसों एक बोलपट (टॉकी) देखने गया था। उसमें एक दूकानदार के मुनीम का पात्र है। दूकानदार का बेटा जब मुनीम से कहता है, कि दूकानदारी में भी

ईमानदारी निबाहनी चाहिए तो मुनीमजी जवाब देते हैं कि, "दूकानदारी और ईमानदारी का एक-दूसरे से कोई ताल्लुक नहीं। दूकानदारी इस दुनिया की कमाई के लिए है और ईमानदारी उस दुनिया की कमाई के लिए है। इन दोनों को मिला देने से नाहक उलझन पैदा होती है।"

मौजूदा समाज की प्रमुख संस्था

मुनीमजी की दलील सुनकर लोग हँस पड़े। उन्हें वह बिलकुल लचर और हास्यास्पद मालूम हुई, लेकिन क्या दुनियादारी में कुशल कहलानेवाले व्यक्तियों को अक्सर इसी उसूल पर चलते हम नहीं देखते ? मौजूदा समाज-रचना की सबसे महत्त्व की केन्द्रीय संस्था बाजार है। जो लोग यह समझते हैं कि बिना झूठ और चालबाजी के बाजार नहीं चल सकता, उनकी बात जाने दीजिये, लेकिन जो लोग सचमुच बाजार में सरलता से काम लेना चाहते हैं वे भी सौदे की नीति से नहीं बच सकते। सौदे की नीति बाजार की आत्मा है। सौदे का सूत्र है : 'कम से कम दें, अधिक से अधिक लें'। जो कम से कम देता है और ज्यादा से ज्यादा लेता है, उसे लोग होशियार और कामयाब समझते हैं। बाजार में उसकी कद्र ज्यादा होती है।

सौदे की मनोवृत्ति

जिस समाज-रचना की प्रमुख संस्था बाजार हो, उस समाज के हर जीवन-क्षेत्र में सौदे की वृत्ति दाखिल हो जाती है। वैद्य या डॉक्टर की कोशिश सस्ती से सस्ती और कम-से-कम दवा देकर अधिक से अधिक पैसा कमाने की होगी। वकील, मास्टर और दूसरे बुद्धिजीवी वर्गों की चेष्टा कम से कम अक्ल, कम से कम समय, खर्च करके उसके बदले में अधिक से अधिक पारिश्रमिक पाने की होगी। साहित्यकार, कलाकार, कारीगर और श्रमजीवी कम से कम सेवा के बदले अधिक से अधिक वेतन चाहेंगे। कम से कम मेहनत और अधिक से अधिक वेतन सबके जीवन का मुख्य नियम होगा।

असली कमाई

सौदे के इस नियम का नाम विनोबा ने अपनी अनूठी सिफत से "बाजार-धर्म" रखा है। यही दूकानदारी है। दूकानदारी की इस नीति से मनुष्य पैसों का ढेर भले ही लगा ले, लेकिन वह आदमियों का संग्रह नहीं कर सकता। वह पैसा बटोरता है और आदमियों से दूर-दूर होता जाता है। वह समझता है कि इस दुनिया में वह बहुत-कुछ कमा रहा है, लेकिन दरअसल तो वह आदमियों में से उठ रहा है। न इस दुनिया के लिए कुछ कमा रहा है और न उस दुनिया के लिए।

मकान का नियम

मनुष्य और मनुष्य के बीच भाईचारा या स्नेह का सम्बन्ध कायम करने का नियम

इससे ठीक उलटा है। स्नेह कहता है, "अधिक से अधिक दे और कम से कम ले।" बल्कि यों कह लीजिये कि देने में और देते रहने में ही, स्नेह अपने को चरितार्थ समझता है। यह नियम हम मकान में पाते हैं। कुटुम्ब में हर व्यक्ति अधिक से अधिक श्रम करता है और अपनी जरूरत से भी कम लेने की कोशिश करता है। इसीलिए परिवार में जो व्यक्ति श्रम या सेवा के लिए असमर्थ होते हैं, उन्हें भी दूसरों के बराबर, बल्कि कभी-कभी दूसरों से ज्यादा उपभोग के साधन मिलते हैं। बच्चे, बूढ़े और बीमार विशेष सुविधाओं के और नियामतों के हकदार समझे जाते हैं। माँ अधिक से अधिक मेहनत करती है और बदले में कम से कम प्रतिग्रह लेती है। यह कुल-धर्म है। बाजार-धर्म दूकानदारी का धर्म है और कुल-धर्म मकानदारी का धर्म है। जब तक दूकानदारी की वृत्ति का स्थान मकानदारी की वृत्ति नहीं लेगी, तब तक हमारा समाज हमारी दूकान रहेगा, मकान नहीं।

मकानदारी का विस्तार

दो मकानदार जब एक-दूसरे के अगल-बगल में रहते हैं तो वे अपने-अपने घर में जो नीति बरतते हैं, वही नीति एक-दूसरे के साथ बरतते हैं। इस प्रकार कौटुम्बिकता का विकास आन्तर-कौटुम्बिकता में हो जाता है। इसे प्रतिवंशी-धर्म या पड़ोसी-धर्म कहते हैं। पड़ोसी वह है, जो अपने पास रहनेवाले की सेवा करता है, लेकिन उसके बदले में कुछ नहीं चाहता। वह अपने पड़ोसी को देता है, लेकिन उससे किसी प्रकार के प्रतिदान की अपेक्षा नहीं रखता। इस वृत्ति से हमारा सारा समाज हमारा मकान बन सकता है। वर्तमान अर्थ-व्यवस्था ने हमारे समाज कुटुम्ब को दूकान में परिणत कर दिया है। हम उसे फिर से मकान बनाना चाहते हैं। कोई कुछ भी कहे, यदि हम दूकानदार से मकानदार बनना चाहते हैं, बाजारू वृत्ति के बदले कुलीनता का विकास करना चाहते हैं तो दूकानदारी में ईमानदारी मिलाकर दूकान को मकान में बदल देने की निरन्तर कोशिश हमें करनी होगी। सौदे के सिद्धान्त की जगह समर्पण का सिद्धान्त ही ग्राह्य मानना होगा।

एक यक्षप्रश्न

मुनीमजी के जिस वाक्य का जिक्र ऊपर आया है, उसमें उन्होंने यह भी कहा है कि ईमानदारी उस दुनिया की कमाई के लिए है। इसमें से एक महत्त्व का सवाल पैदा होता है। जब तक उस दुनिया में या परलोक में विश्वास है, तभी तक इहलोक की तरह परलोक के लिए भी कुछ करने की जरूरत मालूम होगी। पाप-पुण्य की भावना का रक्षण होगा। परलोक में सुख प्राप्त करने की उम्मीद से लोग पुण्य करेंगे और परलोक में कष्ट पाने के डर से पापकर्म से बचेंगे। लेकिन जहाँ परलोक का डर नष्ट हुआ कि लोग पाप-पुण्य की जरा भी फिकर नहीं करेंगे। न उन्हें स्वर्ग की आशा होगी, न नरक का भय होगा। तब सवाल यह होगा कि इस संसार में मनुष्य को सदाचार की

प्रेरणा कैसे हो ? उपर्युक्त बोलपट में, बाजार में धड़ल्ले के साथ बेइमानी और दगाबाजी करनेवाले मुनीमजी भी परलोक के लिए कोई न कोई पुण्य-कार्य करने में विश्वास करते हैं। लेकिन जिनका परलोक में विश्वास नहीं, उनके हृदय में सदाचार की प्रवृत्ति किस प्रकार पैदा हो, यह हमारे सामाजिक जीवन का यक्षप्रश्न है

यह प्रश्न एक सनातनी वृद्ध ने पूछा था। पुराना सदाचार धर्म से सम्बन्ध रखता था और धर्म पारलौकिक सुख के लिए था; लेकिन जब पारलौकिक सुख का सवाल नहीं रह जाता तो सदाचार की प्रेरणा का आधार क्या हो ? मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न का उत्तर विश्व-कुटुम्ब की वृत्ति में है। हम जब कौटुम्बिकता का विनियोग सामुदायिक जीवन के हर क्षेत्र में करेंगे तब ईमानदारी की बुनियाद पर मकानदार की तरक्की होगी और दूकानदारी का तथा सौदागरी का अन्त होगा।

३०-३-१९५०

५. अवमूल्यन की समस्या

रुपये का भाव घटा दिया गया। चारों तरफ कुहराम मच गया। अर्थशास्त्री और स्वार्थशास्त्री पक्ष-विपक्ष में लम्बी-लम्बी दलीलें देने लगे। सुतर्क और कुतर्क करने लगे। साधारण मनुष्य हक्का-बक्का है। बात उसकी समझ के परे है। चकराया-सा शून्य दृष्टि से इधर-उधर घूर रहा है। बात दिमाग में उतरती ही नहीं।

अटपटी-सी बात

आजकल के सुसंस्कृत भ्रमों और बहमों से जो अब तक अलिप्त रह गया है, उसकी समझ में सिक्कों के भाव बढ़ने-घटने की बात आये भी कैसे ? वह तो बेचारा अधिक से अधिक इतना ही समझता है कि जब पैसा सस्ता हो जाता है तो चीजें महँगी हो जाती हैं। और जब चीजें सस्ती हो जाती हैं तो पैसा महँगा हो जाता है। जब रुपया आज से कम सस्ता था तब भी चीजें महँगी थीं और जब कि वह ज्यादा सस्ता कर दिया गया है तब लोगों से कहा जाता है कि चीजें ज्यादा महँगी नहीं होंगी। बात कुछ अटपटी-सी लगती है, इसलिए साधारण मनुष्य असमंजस में पड़ गया है।

एक मिसाल

यों सस्ते और महँगे की भाषा मनुष्यों के आपसी घरेलू व्यवहार की भाषा नहीं। एक प्रत्यक्ष उदाहरण से बात स्पष्ट हो जायगी। उदाहरण कल्पित नहीं है। उस दिन एक बच्चे से कहा, दो केलों के बदले एक केला खाओ। वह बोला— क्यों ? मीठे नहीं हैं ?

जवाब दिया— मीठे हैं ! फिर पके नहीं हैं ? पके भी हैं। सड़े, गले, उतरे हैं ? नहीं साबित हैं। फिर क्यों न खाऊँ ? उत्तर दिया— महँगे हैं। बच्चे ने पूछा— महँगे केले कैसे होते हैं ? क्या जवाब देता ? अपनी असमर्थता पर थोड़ी झुँझलाहट हुई। आखिर में कह दिया— कम मिलते हैं। बात बच्चे की समझ में आ गयी बोला— 'अच्छा ! बगीचे में अबकी कम हुए हैं ?'

सामाजिक व्यवहारों का विधाता !

अबोध बालक की बात छोड़ दीजिये। सामान्य प्रौढ़ जन एक हद तक सस्ते और महँगे की बात समझ लेता है। वह उसे स्वाभाविक तो नहीं मानता, फिर भी आज की आर्थिक रचना में अनिवार्य मान लेता है। लेकिन सिक्कों के आपस में सस्ते–महँगे होने की बात उसे बहुत ही रहस्यमय और अतर्क्य जान पड़ती है। वह उसकी कृत्रिमता और जटिलता को समझ नहीं पाता। पहले भी वह चीजों का सस्ता होना और महँगा होना तो समझता था, लेकिन सस्ता किया जाना और महँगा किया जाना नहीं समझ पाता था। धीरे–धीरे उसे इसकी भी आदत हो गयी। अब एक नयी बात पैदा हुई। चीजों को लेकर नहीं तो सिक्कों को लेकर ही सिक्के आपस में सस्ते–महँगे होने लगे और किये जाने लगे। पहले मनुष्य वस्तु–जीवी था। उसकी सम्पत्ति अन्न और पशुओं में हुआ करती थी। बाद में धन–जीवी हुआ और अब तो मुद्रा–जीवी हो गया है। अब तो उसके जीवन का नियामक देवता सिक्का है। वही आज हमारे सारे सामाजिक व्यवहारों का विधाता है।

पेंचदार-जीवन

सिक्कों के भावों की घट–बढ़ का यह मामला बहुत पेंचीदा है। आजकल के कुछ संस्कृतिवादियों का कहना है कि जीवन सांस्कृतिक दृष्टि से जितनी तरक्की करता है उतना ही वह पेंचीदा होता जाता है। सांस्कृतिक उन्नति का, जीवन की व्यामिश्रता और पेंचीदगी के साथ, कितना और कैसा संबंध है, इसका विचार इस स्थान पर नहीं किया जा सकता, लेकिन एक दूसरे अर्थ में हमारा राजनैतिक और आर्थिक जीवन काफी पेंचदार हो गया है। हरएक राष्ट्र और हरएक राज्य अपने–अपने पेंच बनाने में व्यस्त हैं। एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र से संबंध पेंचदार बोतल के जैसे हैं। बोतल और उसके ढँकने के पेंच जहाँ एक–दूसरे से ठीक बैठ जाते हैं वहाँ ढँकना बोतल में चुस्त बैठ जाता है, लेकिन जहाँ पेंच मेल नहीं खाते वहाँ ढँकना चुस्त नहीं बैठता। आर्थिक और राजनैतिक व्यवहारों में जिन राष्ट्रों के पेंच एक–दूसरों के साथ चुस्त बैठते हैं, उनमें कुछ मेल और सहयोग दिखाई देता है। जिनके पेंच मेल नहीं रखते, उनमें विरोध और अलगाव दिखाई देता है।

मलिका डॉलर

इसी आशय की कुछ बात इस अवमूल्यन के मसले को लेकर हमारे यहाँ के

अर्थ-शास्त्रज्ञों ने कही। उन्होंने कहा कि हमारे औद्योगिक और व्यापारिक संबंध डॉलर के क्षेत्र की अपेक्षा पौंड के क्षेत्र से अधिक हैं और अब पौंड डॉलर के सामने झुक गया है। आज बाजार की साम्राज्ञी, मलिका, डॉलर है। अमेरिका में सत्ता जनता की नहीं, डॉलर की है और संसार के धनाकांक्षियों पर प्रभुत्व अमेरिका का है। इसलिए आज डॉलर का प्रताप भगवान् से भी बढ़कर है। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया।' ऐसी कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् शक्ति आज डॉलर में है।

सोने की माया

यह माया का खेल है, इसमें कोई शक नहीं। सोने की माया बड़ी दुरत्यय है। उपनिषदों में बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानियों को भी ललचाने के लिए पहले गो-धन का प्रलोभन बतलाया जाता था। जनक ने ब्रह्मवादियों से कहा कि आप लोगों में से जो ब्रह्मिष्ठ होगा याने सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी होगा उसे एक हजार गायें दूँगा। परन्तु इतने से संतोष नहीं हुआ। इसलिए उसने "दश दश पादा एकैकस्याः शृंगयाराबद्धा बभूवुः।"— हरएक गाय के सींगों में दस-दस मोहरें बाँध दीं और इस तरह दूध की और गाय की अपेक्षा सोने की महिमा बढ़ायी— 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखं।' सचाई के, वास्तविकता के मुँह पर सोने का ढँकना है।

सिक्कों की महिमा

बात सही है। भाषण के सिलसिले में मूलभूत बात अनायास कह देने की सिफत जवाहरलालजी में है। एक दिन पार्लमेंट में भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि हमें डॉलर, पौंड और रुपये की अपेक्षा इनसे जो चीजें खरीदी जाती हैं उनका ध्यान अधिक रखना चाहिए। आदमी आखिर सिक्के खाकर थोड़े ही जीता है ? बात पते की कही। यह सच है कि आदमी सिक्के नहीं खाता, सिक्के नहीं पहनता, सिक्कों में नहीं रहता, सिक्कों पर बैठकर नहीं घूमता, लेकिन फिर भी सिक्कों की महिमा अपरंपार है। भले-भले आदमी एक दूसरों पर जब बिगड़ते हैं तो सिक्के खाने का आरोप— गबन का आरोप— करते हैं। बंकिमबाबू ने बड़ी मजे की बात लिखी है। उनके 'लोकरहस्य में बृहल्लांगूलाचार्य नामक एक व्याघ्राचार्य का भाषण दिया है। आचार्य जो ठहरा। उसने मानव समाज के बारे में कुछ मूलगामी बातें कहीं। वह बाघ कहता है कि 'मैंने मनुष्यों को एक-दूसरे पर पैसे खा जाने का आरोप करते सुना। गवाँर और अपढ़ मनुष्यों को नहीं, शिष्ट और प्रतिष्ठित मनुष्यों को। मुझे ऐसा लगा कि जब इतने बड़े-बड़े आदमी पैसा खाते हैं तो वह कोई बड़ी पौष्टिक और स्वादिष्ट चीज होगी। मैंने भी खाकर देखी। अब तक मेरे पेट में दर्द है। ऐसी विषैली चीज आज तक खाने में नहीं आयी। मैं समझता हूँ, इस जहर की टिकिया को मनुष्य ही पचा सकता है। हम जंगली जानवरों को अन्य खाद्य पदार्थों पर ही निर्वाह करना होगा।'

जंगल के उस जानवर ने हमारे जीवन की मूलभूत समस्या की तरफ ही संकेत

किया। क्या मनुष्य रोटी पर जीता है ? या नहीं जीता ? माना कि वह सिर्फ रोटी पर नहीं जीता, लेकिन क्या रोटी के बिना भी जी सकता है ? सिर्फ गणित के हिसाबों पर, बीजगणित के समीकरणों पर और अंकों के इंद्रजाल पर क्या उसकी गुजर हो सकती है ? आखिर मूलभूत बात यह है कि सिक्कों की अपेक्षा वस्तु का महत्त्व अधिक है। जब सिक्कों का महत्त्व वस्तु की बनिस्बत अधिक हो जाता है, तो एक कृत्रिम मयसभा का निर्माण होता है। मयासुर ने जिस सभा भवन का निर्माण किया था, वह इतना विचित्र था कि जहाँ पानी हो वहाँ जमीन का भ्रम होता था और जमीन की जगह पानी का भ्रम होता था। उसी तरह मुद्राराक्षस की बनायी हुई इस मायापुरी में प्रचुरता की जगह दुर्भिक्ष का भ्रम होता है और कहत की जगह इफरात का।

मुद्राधारियों का अर्थशास्त्र

अवगणन के परिणामस्वरूप जो परिस्थिति पैदा हो सकती है उसके प्रतिकार के लिए कई तरह के उपाय सुझाये गये हैं। आयात और निर्यात का नियन्त्रण इन उपायों में से सबसे बड़ा उपाय समझा गया है। डॉलर के क्षेत्र में से कतई आयात न हो, दूसरे क्षेत्रों में से भी यथासम्भव कम हो और खाद्य पदार्थों की आयात तुरन्त बन्द कर दी जाय, इस बात पर सबने जोर दिया। हरएक राष्ट्र अपना-अपना अलग घरौंदा बनाकर अलगोझे की वृत्ति न बढ़ायें यह बात सभी कोई मानते हैं, लेकिन केवल कृत्रिम आर्थिक मायाजाल बिछा कर अगर एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के रोजमर्रा के जीवन में हस्तक्षेप कर सकें और अपनी मनमानी चला सकें तो दुनिया में आर्थिक स्वस्थता की जगह आर्थिक अनवस्था सब तरफ फैलेगी। यह आज के अनर्थमूलक और अनर्थपर्यवसायी अर्थशास्त्र का दुष्परिणाम है। आज का अर्थशास्त्र वित्तपूजकों का और मुद्राधारियों का अर्थशास्त्र है। वित्तपूजक जीवन के सारे मूल्यों का हिसाब रुपये, आने और पाई में करता है। वह बोलता भी नपा-तुला है। अपने मुँह की भाफ मुफ्त में नहीं जाने देता। आयु का हिसाब भी पैसों में लगाता है। कहता है, वक्त ही वित्त है। हर चीज में, हर बात में हिसाब होता है। नाप-तौलकर खाओ, नाप-तौलकर पिओ, नाप-तौलकर पहनो, और आखिर नाप-तौलकर जिओ! योगी में और उसमें इतना ही अन्तर है कि वह खाना, पीना, सोना नाप-तौलकर करते-करते जीवन भी नपा-तुला जी पाता है।

अनर्थकारी अंक

जिस तरह हम एक सर्वथा कृत्रिम और मायावी आर्थिक संसार में रह रहे हैं, आर्थिक क्षेत्र में भी बुनियादी बातों की तरफ ध्यान देना हमारे लिए असम्भव हो गया है। गणित ने और विज्ञान ने हर चीज का हिसाब लगा-लगा कर एक अजीब गोरख-धंधा खड़ा कर दिया है। साहित्यिक कहते हैं, बुभुक्षितैः काव्यरसं न पीयते,' लेकिन आज के अर्थशास्त्री कहते हैं कि राष्ट्र और देश अंकों पर जीते हैं और अंकों की बदौलत

मरते हैं। यहाँ जीवनोपयोगी पदार्थों की भूमिका एकदम गौण हो जाती है, अंक ही सब कुछ हैं। राजभाषा के विवाद में इन अंकों ने सारा मामला चौपट कर दिया था। आज भी उनकी तबीयत नहीं भरी। आर्थिक क्षेत्र तो उनका अपना क्षेत्र है। अगर वहाँ पर भी वे अनर्थ नहीं करेंगे तो कहाँ करेंगे ?

अंकजीवी मनुष्य

विनोबा ने न मालूम किस धुन में एक दफा कहा कि उनका ईश्वर के बाद गणित पर ही विश्वास है। वैसे मैं विनोबा को बहुत पूज्य मानता हूँ, लेकिन उनके इस मत के बाद वे मुझे शून्य की तरह गहन मालूम होने लगे। विनोबा सन्त जो ठहरे। इसलिए वे वाचा-सिद्ध भी हैं। उनकी श्रद्धा भला निष्फल कैसे हो सकती है ? आज हम अन्नजीवी मनुष्य की जगह अंकजीवी, गणितजीवी और मुद्राजीवी मनुष्य देख रहे हैं। गणित-शास्त्र बड़ा सुनिश्चित शास्त्र माना जाता है, लेकिन अंकशास्त्र के रूप में तो वह उतना ही अतर्क्य और अगाध प्रतीत होता है, जितना कि ईश्वर।

अन्न बनाम मुद्रा

मनुष्य का पहला बल अन्न है। प्राथमिक देवता रोटी है। मुद्रा गोल और चमकीली भले ही हो, वह रोटी की जगह नहीं ले सकती। मनुष्य सबसे पहले अन्नजीवी है। लेकिन आज के अर्थशास्त्र ने जो इन्द्रजाल फैला रखा है, उसमें मानवीय जीवन का नियन्त्रण सुनहरी टिकिया करती है, न कि जीवनोपयोगी पदार्थ।

हमारे सिद्धि-नायक देवता

अवमूल्यन की बारीकियों और सूक्ष्म फलितार्थों को समझना और समझाना अर्थशास्त्रियों को ही मुबारक हो। उन सबके मत पढ़ने के बाद हमें तो नैकोमुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्— जिसका मत भिन्न न हो, ऐसा एक भी मुनि नहीं— यह वाक्य याद आया। भला दो वैद्यों का, दो विशेषज्ञों का, और दो घड़ियों का भी कभी एकमत होता है ? हमें आपके अवमूल्यन और उन्मूल्यन से मतलब नहीं। हम इस देश में जीवनोपयोगी साधन-सामग्री की प्रचुरता चाहते हैं। यह प्रचुरता देनेवाले गणित, अंकशास्त्र और अर्थशास्त्र, सभी हमारे लिए सिद्धिनायक देवता होंगे।

८-१०-१९४९

६. वर्ग-निराकरण की प्रक्रिया

तुमने मुझसे वर्ग-भेद के बारे में चर्चा की। मैं ऐसा मानता हूँ कि हमारे देश में भी वर्ग हैं। हरएक वर्ग के व्यक्ति बदलते रहते हैं और बदल सकते हैं, इसलिए यह कहना सयुक्तिक नहीं होगा कि वर्ग है ही नहीं। इस समूह के व्यक्ति बदलते हैं उसीको 'वर्ग' कहना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो वह समूह 'जाति' कहलाता। जाति जन्म पर निर्भर है। इसी कारण जाति-निराकरण तब तक असम्भव है, जब तक हम जन्म की ही परिस्थिति में परिवर्तन नहीं करते; यानी सजातीय विवाह निषिद्ध नहीं करार देते। वर्ग के विषय में यह बात नहीं है। आज का अमीर कल का गरीब बन जाता है, आज का गरीब कल अमीर बन जाता है। इसमें कर्तृत्व के लिए अवसर है, लेकिन वह समाज-व्यवस्था के कारण सीमित है। वास्तव में सबके समान अवसर नहीं मिलता। जो अमीर की कोख से पैदा होता है, उसे सामाजिक प्रतिष्ठा तथा कौटुंबिक सुख-सुविधा बिना प्रयत्न के ही उपलब्ध हो जाते हैं। सम्पत्ति और दारिद्र्य व्यक्ति को विरासत में प्राप्त होते हैं।

वर्ग-निराकरण के बिना साम्ययोग असंभव

समाज में अनुत्पादक व्यवसाय करनेवालों की इज्जत बढ़ती है। परम्परागत परिस्थिति से उनको लाभ मिलता है। समाज-सेवा भी व्यवसाय बन जाता है। सेवा तथा संस्कृति सौदे की चीजें बन जाती हैं। अमीरी और गरीबी व्यक्तिगत पुरुषार्थ पर बहुत कम परिमाण में निर्भर होती है। वह मुख्य रूप से उपलब्ध साधन और सुयोग पर निर्भर होती है। वे साधन और सुयोग, विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति के कारण एक वर्गविशेष के व्यक्तियों को ही उपलब्ध होते हैं। विशिष्ट आर्थिक व्यवस्था के कारण परिस्थिति की जो विरासत हरएक व्यक्ति को मिलती है, वही आर्थिक विषमता की जड़ है। जो व्यवसाय व्यक्ति के अथवा विशिष्ट समुदाय के मुनाफे के लिए किया जाता है, उसे पापमूलक समझना चाहिए। यदि अनुत्पादक व्यवसाय व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता हो, तो उसे अधिक बड़ा पाप मानना चाहिए। व्यवसाय विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति पर अवलंबित हैं। इसलिए जो लोग ये व्यवसाय करते हैं, उनका एक वर्ग बन जाता है। अतएव वर्ग-निराकरण के बिना साम्ययोग की स्थापना असंभव है।

अच्छाई और बुराई का वर्गीकरण अनर्थकारक

समझदार और मूर्ख, सज्जन और दुर्जन के वर्ग मानना न केवल अशास्त्रीय ही है; अपितु अनर्थावह भी है। अच्छाई और बुराई गुण हैं। उनका सम्बन्ध बाह्य साधनों से और व्यवसायों से कम मात्रा में है। व्यवसाय के कारण कभी-कभी समाज-विरोधी

भूमिका प्राप्त होती है। उससे वृत्ति भी दूषित होती है। परन्तु व्यवसाय के कारण जो सज्जनता और दुर्जनता की भूमिका प्राप्त होती है, उसके आधार पर हमें व्यक्तियों को सज्जन या दुर्जन नहीं मानना चाहिए। कसाई का धंधा करनेवाला भी बड़े दिल का और दयालु हो सकता है। फाँसी की सजा पर अमल करनेवाले व्यक्ति निर्घृण (बेहया) भले ही हों लेकिन उनकी गिनती दुष्टों में नहीं की जा सकती। जो अपने-आप को साधु या सज्जन मानता है, उस अहंकारी व्यक्ति के बराबर अधम और कौन है ? हम जब वस्तुनिष्ठ दृष्टि से और तटस्थ भाव से देखते हैं तो कुछ व्यक्तियों की दुष्टता अल्प मात्रा में दिखायी देती है और कुछ व्यक्तियों में सज्जनता अल्प मात्रा में पायी जाती है। समाज में सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और सुजान, उदार और कृपण व्यक्ति हैं। परन्तु सज्जनता और दुष्टता, मूर्खता और सयाँपा इत्यादि गुण बाह्य उपकरणों पर और साधनों पर अल्प मात्रा में निर्भर हैं और समाज में हम सारे नियम सज्जनता के विकास के लिए ही बनाते हैं। इसलिए सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और सयाने, इस तरह का वर्गीकरण करना अत्यन्त अनर्थकारक साबित होगा।

सज्जन और दुर्जन, मूर्ख और सयानों में प्रत्यक्ष व्यावहारिक स्वार्थ-विरोध निर्माण नहीं होता। सज्जन को अपना सौजन्य बढ़ाने के लिए दुर्जन की दुर्जनता से फायदा उठाने की जरूरत नहीं होती। सयाने को अपने सयाँपे के संरक्षण के लिए दूसरे की मूर्खता बनाये रखने की योजना नहीं करनी पड़ती।

आर्थिक और गुणाश्रित विषमता का निराकरण

इस प्रकार आर्थिक विषमता और गुणाश्रित विषमता में मूलभूत अंतर है। आर्थिक विषमता विशिष्ट सामाजिक रचना, परम्परा तथा परिस्थिति पर आधार रखती है। गुणाश्रित विषमता का निराकरण आत्म-शक्ति से हो सकता है।

अमीरी प्राप्त करने के लिए भी तप और परिश्रम की आवश्यकता होती है। परन्तु वह त्याग और परिश्रम व्यक्तिगत लाभ, प्रतिष्ठा और स्वार्थ के हेतु किये जाते हैं। इसलिए वे समाज-विघातक सिद्ध होते हैं। यह तप आसुरी तप कहलाता है। रावण, हिरण्यकशिपु इत्यादि असुरों ने इसी प्रकार का तप किया। इसलिए प्राणिमात्र के साथ आत्मभाव सिद्ध करके यथार्थ अमरत्व प्राप्त करने के बदले उन्होंने यह वरदान माँग लिया कि हमें किसीके हाथों मृत्यु न आये। अर्थात् उन्होंने यह मान लिया कि संसार में जितने प्राणी हैं, वे सब उनके शत्रु हैं। जो दूसरों को पैरों तले रौद कर खुद जीना चाहता है, वह उनको अपना शत्रु माने बिना कैसे रह सकता है ? जो सबका शत्रु बन जाता है, वह तपस्या के बाद ईश्वर से वरदान भी आसुरी ही माँगता है। अपने चारों तरफ संरक्षणभावना का परकोटा बना कर मनुष्यों से अलग पड़ जाता है। जो मनुष्यों को शत्रु मान कर अलग होना चाहता है, वह अपने व्यक्तित्व का गला घोंट कर जीवन से ही हाथ धो बैठता है। इस प्रकार परिग्रह-भावना की बदौलत आसुरी संपत्ति की सत्ता शुरू हो जाती

है। अतः जब तक अमीरी और गरीबी का अंत नहीं होगा, तब तक मनुष्यता का संरक्षण असंभव है।

दान और यज्ञ में बंधुत्वमूलक प्रक्रिया

अमीरी और गरीबी की बदौलत मनुष्य मनुष्य से दूर पड़ जाता है। इसीलिए हम अमीरी और गरीबी का अंत कर देना चाहते हैं। स्पष्ट है कि अमीरी और गरीबी के निराकरण की प्रक्रिया भी मनुष्यता और बंधुत्व का विकास करनेवाली होनी चहिए। यह गुण विनोबा की दान-यज्ञ-प्रक्रिया में है। बंधुत्व पर अधिष्ठित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिए संपत्ति और भूमि के पुनर्वितरण की प्रक्रिया भी बंधुत्वमूलक होनी चाहिए। तभी वह सम्पत्ति सार्वजनिक अथवा अखिल-मानवीय होगी।

आसुरी सम्पत्ति प्रभुत्व की भावना पर आधार रखती है। दैवी सम्पत्ति कल्पतरुवाद से कलुषित होती है। परन्तु मानवीय संस्कृति श्रम पर आधार रखती है; इसलिए उसमें बंधुत्व के दो आचारात्मक तत्त्वों का, अर्थात् दान और यज्ञ का महत्त्व है। असुरों की मदिरा में मादकता है, देवों के अमृत में केवल मिठास है, बहुत मीठा खाने से मुँह मीठा हो जाता है। परन्तु श्रमनिष्ठ उत्पादन पद्धति से उपार्जित हमारे अन्न में अद्‌भुत लज्जत होती है। उसमें जीवन के सारे रस और धरतीमाता का समूचा सौरभ होता है।

मार्च, १९५२

७. विनोबा का कल्याणकारी उपक्रम

गांधी-प्रक्रिया का परिणत स्वरूप

'हरिजन' सम्पादक पू० किशोरलालभाई ने विनोबा के भूमिदान-यज्ञ के प्रयोग को गांधी-प्रक्रिया का परिणत स्वरूप कहा है। ये शब्द किशोरलालभाई के नहीं हैं, हमने उनका आशय अपने शब्दों में व्यक्त किया है। लेकिन कुछ प्रगतिवादी समाचार-पत्रों ने विनोबा के इस उपक्रम की कड़ी आलोचना की है। उनका यह आक्षेप है कि इस प्रकार के आंदोलन से अराज्यवाद की प्रवृत्ति जोर पकड़ेगी और देश में विधि-युक्त सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं रहेगी।

जनता का अनुमोदनरूपी आधार

इस आलोचना में एक गम्भीर तर्क-दोष है। राज्य के हरएक विधान के पीछे जनता के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार अनुमोदन यदि हो तो कानून का अमल करने के लिए दण्ड की शरण नहीं लेनी पड़ती। इसलिए शासन को जनता

का स्वयंप्रेरित समर्थन और सहयोग प्राप्त करा देना हरएक लोक-निष्ठ कार्यकर्त्ता का परम कर्तव्य है। जनता का स्वयंप्रेरित प्रयत्न प्रशासन को शक्ति देता है और उसकी नींव दृढ़ करता है। विनोबा का उपक्रम इसी प्रकार का है।

मानवोचित क्रांति

सारे देश में जमींदारी और सरमायादारी का धीरे-धीरे अंत करने के लिए धारा सभाओं में कानून पेश किये गये। उनका घोर विरोध हुआ, उनके रास्ते में अड़ंगे डाले गये और अदालत में उनकी वैधानिकता का प्रश्न उपस्थित किया गया। इस विरोध-वृत्ति का निराकरण विनोबा अपने ढंग से करना चाहते हैं। वे सम्पत्तिमानों को यह समझाना चाहते हैं कि वे सम्पत्ति के संविभाजन में यदि सहयोग देंगे तो मानवता की बलि दिये बिना ही क्रांति होगी। सशस्त्र और हिंसक क्रांति या सम्पत्ति का बलपूर्वक अपहरण करने से दोनों पक्षों में कटुता पैदा होती है। संविभाग तो होगा, लेकिन अन्तःकरण में गहरे घाव रह जायेंगे। इसमें भयानक सांस्कृतिक हानि होगी। इस अनर्थ से मानवता को बचाने का संकल्प विनोबा ने किया है। हो सकता है कि उनकी शक्ति परिमित साबित हो, लेकिन साक्षात् भगवान् बोल चुके हैं कि 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

छोट-बड़े भूपतियों की शृंखला

सार्वभौम भूपति सम्राट कहलाता था, एक राष्ट्र का भूपति राजा कहलाता था और फुटकर भूपति जमींदार तथा सरमायेदार कहलाते थे। इस प्रकार एक तरफ छोटे-बड़े भूपतियों की परम्परा थी और दूसरी तरफ जमीन जोतनेवाले छोटे-बड़े भू-दासों की श्रेणी थी। आज जो भू-दास हैं, यानी अपने परिश्रम से जमीन जोतते हैं, वे भी भूपति बनना चाहते हैं। पहले छोटे-बड़े भूपति थे, अब सभी समान आकार के भूपति बनना चाहते हैं, किन्तु बनना चाहते हैं भूपति ही।

भावी समाज भूपतियों का नहीं, निर्माताओं का

विनोबा समाज में यह संकल्प जागृत करना चहाते हैं कि भविष्य में समाज भूपतियों का नहीं, भू-माता के पुत्रों का होगा। मालिकों का नहीं, उत्पादकों का होगा। सृष्टि का धनधान्य खा-खा कर खत्म करनेवालों का नहीं, सृष्टि की समृद्धि और उत्पादन-शक्ति बढ़ानेवालों का होगा।

शास्त्रपूत अनुभवसिद्ध प्रयोग

इसके लिए दो तरह की भावनाओं का विकास करना होगा। सम्पत्तिधारियों में आत्मविसर्जन की भावना पैदा करनी होगी और छोटे-छोटे भूस्वामी किसानों में ट्रस्टीशिप की भावना का विकास करना होगा। अहिंसक क्रान्ति की यही विधि है। विनोबा उसके विज्ञाता और अनुष्ठाता हैं। उनका प्रयोग शास्त्रपूत और अनुभवसिद्ध है। वह आवश्य

कल्याणकारी सिद्ध होगा। इस देश के सभी आर्थिक स्वतंत्रतावादी व्यक्तियों को इस महान् उपक्रम में उत्साह और लगन के साथ सहयोग देना चाहिए। उसकी नुकताचीनी करने में किसीका फायदा नहीं है।

सोने का नहीं, मिट्टी का निर्ख

विनोबा के प्रयोग की एक अपूर्व विशेषता यह है कि वे सोने की जगह मिट्टी का निर्ख बढ़ाना चाहते हैं, इसलिए वे किसीसे पैसा नहीं लेते। सिर्फ मिट्टी माँगते हैं। धरती माता के वे अनन्य उपासक हैं।

मिट्टी में सृष्टि का वैभव

श्रीकृष्ण ने जब मिट्टी फाँकी तो यशोदा ने उन्हें डाँटा। "मैंने मिट्टी नहीं खायी है," यह दिखाने के लिए श्रीकृष्ण ने अपना मुँह बाकर दिखाया तो यशोदा ने उस छोटे-से मुखारविंद में विश्वरूप का सारा वैभव देखा। "**क्वचिन् मृत्स्ना शित्वम**, क्वचिदपि च वैकुंठविभवः।" विनोवा के इस साधारण-से दिखायी देनेवाले प्रयोग में ऐसा ही इंगित सन्निहित है।

संसार में भूपति भूमि का संग्रह करते हैं, नृपति जन-संग्रह करते हैं और धनपति धन-संग्रह करते हैं। किन्तु मानवीय क्रांति का यह आधुनिक अग्रदूत केवल स्नेह-संग्रह कर के धरती का बोझ घटा रहा है।

८-१०-१९५१

८. पंचवार्षिक योजना

उत्पादक को आश्वासन नहीं

भारत-सरकार की पंच-वार्षिक योजना प्रकाशित हो गयी है। उस विषय के विशेषज्ञ और अधिकारी व्यक्ति इस योजना के बारे में अपना-अपना मत प्रगट कर रहे हैं। परन्तु जन-सामान्य की दृष्टि से हमें यह योजना विशेष उत्साहजनक नहीं मालूम होती। उत्पादन की प्रचुरता के लिए संयोजन होना चाहिए यह तो सभी मानते हैं, लेकिन वस्तु के प्रचुर मात्रा में निर्माण होने पर भी वह साधारण मनुष्य की पहुँच से बाहर रहे तो उस उत्पादन से साधारण नागरिक का कोई उपकार नहीं हो सकता। वस्तु का केवल उत्पादन ही काफी नहीं है, वह सबके लिए उपलब्ध भी होनी चाहिए। इस दृष्टि से सबको काम देने का कोई-न-कोई सन्माननीय उपाय खोजना जरूरी हो जाता है। इस देश के साधनहीन नागरिक को हम भिक्षाजीवी नहीं बनाना चाहते, उसे उत्पादक

की प्रतिष्ठा प्राप्त करा देना चाहते हैं। पंच-वार्षिक योजना में इसका कोई निश्चित आश्वासन नहीं है।

अनिर्णय का आभास

हम विशुद्ध अर्थ-रचना, सबल-अर्थ-रचना या सम्मिश्र अर्थ-रचना में से किसी एक के कायल नहीं हैं। हमारा निवेदन इतना ही है कि सम्मिश्र-अर्थ-रचना का आधार समन्वय होना चाहिए, न कि समझौता। समझौते के अर्थशास्त्र (मिक्स्ड इकॉनमी) में अक्सर सभी पक्षों की सत्व-पूर्ण तथा आवश्यक विशेषताओं को छोड़कर उनके निःसत्व सामान्य अंश का ही समुच्चय कर लिया जाता है। इससे वह योजना जितनी निर्दोष, उतनी ही निर्गुण बन जाती है। जितनी निरुपद्रवी उतनी ही प्रभाव-हीन बन जाती है। इस पंचवार्षिक योजना में अनिर्णय का आभास होता है।

संदिग्धता और अनिश्चय

वस्तु-स्थिति यह है कि हमने अपने संविधान के द्वारा इस देश के साधन-सम्पत्तिहीन नागरिक को दिल्ली के तख्त का राजा तो बना दिया है, लेकिन हम उसे उत्पादन के साधनों और औजारों का मालिक नहीं बना सके हैं। निजी सम्पत्ति और दरिद्रता, तथा लोकसत्ता बहुत दिनों तक साथ-साथ नहीं ठहर सकती। इस दृष्टि से साधन-हीन मनुष्य को उत्पादन के साधन उपलब्ध करा देना और उसे उत्पादक परिश्रम का अवसर देना हमारे आर्थिक संयोजन का बीज-मंत्र होना चाहिए। आर्थिक-संयोजन नयी संस्कृति और नयी समाज-रचना के निर्माण का साधन है। हमने राजनैतिक क्षेत्र में साधारण मनुष्य की निरपेक्ष प्रतिष्ठा तो स्थापित कर दी है। आर्थिक क्षेत्र में साधारण मनुष्य की प्रतिष्ठा तभी स्थापित होगी, जब उत्पादक को उत्पादन के साधन उपलब्ध होंगे और उसे अपनी रुचि तथा योग्यता के अनुसार उत्पादन करने के लिए अवसर रहेगा। पंचवार्षिक योजना पढ़ने पर इन विषयों में संदिग्धता और अनिश्चय की ही छाप मन पर पड़ती है।

११-१२-१९५२

९. विनोबा का बीजगणित

विनोबा के भू-दान-यज्ञ-आन्दोलन का विचार आर्थिक संयोजन की दृष्टि से कई धुरन्धर अर्थशास्त्रियों ने और राज्यनेताओं ने किया है। आर्थिक दृष्टि से हिसाब करना आवश्यक और उपयुक्त भी है। विनोबा के दो सूत्र प्रसिद्ध हैं। वे कहा करते हैं कि परमात्मा

के बाद मेरा विश्वास गणित में है। वे यह भी कहा करते हैं कि परमार्थ उत्कृष्ट हिसाब का नाम है। अर्थात् विनोबा गणित की दृष्टि से और हिसाब की दृष्टि से भी अपनी सारी योजनाओं का बड़ी सावधानी से विचार कर लेते हैं। लेकिन उनके इस भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में अंकगणित की अपेक्षा बीजगणित की प्रक्रिया अधिक है। अंकगणित का सारा दारोमदार आँकड़ों और रकमों पर होता है। बीजगणित में आँकड़ों की जगह 'संकेत' (सिंबॉल्स) होते हैं। भू-दान-यज्ञ में 'दान' और 'यज्ञ', ये दोनों शब्द सांकेतिक हैं।

'दान' शब्द का सांकेतिक अर्थ

'दान' शब्द सम्पत्ति के समान वितरण का संकेत है। जिसने संग्रह कर लिया हो, वह उस संग्रह के विभाजन के लिए दान करे। जब तक संपत्ति का समान वितरण न हो, या कम-से-कम न्यायोचित वितरण न हो, तब तक उसका दान परिपूर्ण नहीं होगा।

समान वितरण और न्यायोचित वितरण

हमने समान वितरण और न्यायोचित वितरण में भेद किया है, क्योंकि मनुष्यों की तथा कुटुम्बों की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। आवश्यकतानुरूप वितरण को हम न्यायोचित वितरण कहेंगे। अंकगणित के हिसाब से वितरण जेलखानों में होता है। हरएक कैदी को छः-छः रोटियाँ मिलती हैं। जो पाँच खाये, उसकी भी पेशी होती है और जो सातवीं माँगे, उसकी भी पेशी होती है। साधारण गुणाकार या भागाकार का मोटा हिसाब सुविधाजनक भले ही हो, परन्तु वह हमेशा न्यायोचित नहीं होता। हम संग्रह का विभाजन इसीलिए तो चाहते हैं न कि संग्रह अन्याययुक्त है ? हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि हम विषमता का निराकरण करना चाहते हैं, न कि विविधता का या विशिष्टता का।

दान-वृत्ति की अपार महिमा

मतलब यह कि दान में सम्पत्ति के संविभाग (सम्यग् विभाजन) का संकेत है। जो सम्पत्तिमान हैं, उन्हें संग्रह के प्रायश्चित के रूप में दान करना चाहिए। यदि वे ऐसा करेंगे तो उनकी सम्पत्ति का परिहरण (एक्स्प्रोप्रिएशन) नहीं करना पड़ेगा। सम्पत्ति को मर्यादित करनेवाले जो कानून बनेंगे, उनके साथ वे भी सहमत रहेंगे। दान में प्रतिमूल्य की या मुआवजे की भावना के लिए गुंजाइश ही नहीं। जो दान देता है, वह दान की वस्तु के साथ-साथ दान की पूर्ति के लिए ऊपर से और दक्षिणा भी दे देता है। जो पुराणमतवादी लोग ब्राह्मण को दान में गाय, मकान या अन्य कोई वस्तु देते हैं, वे उस दान की परिपूर्ति के लिए दक्षिणा भी देते हैं। दान में ममत्व के त्याग के साथ-साथ प्रायश्चित्त की भी भावना है। संग्रहशील व्यक्ति यदि अपनी मर्जी से संपत्ति के समविभाजन का आरम्भ कर देते हैं, तो उनकी संपत्ति के साथ-साथ उनकी प्रतिष्ठा और हिम्मत भी नहीं जाती। अमीरी को नष्ट करके अमीरों की इज्जत और हिम्मत बचा लेने का यह

अनोखा तरीका है। यह अमीरों और गरीबों की इन्सानियत बढ़ाता है।

यज्ञ में आत्मोत्सर्ग है

'यज्ञ' शब्द स्वामित्व के त्याग का संकेत है। हम समाज में बड़ी मालकियत की जगह छोटी मालकियत कायम करना नहीं चाहते। मालकियत की वृत्ति और आकांक्षा का ही अन्त कर देना चाहते हैं। इसलिए विनोबा केवल बड़े-बड़े जमींदारों से ही जमीन नहीं माँगते, वे एक एकड़ और आध एकड़वाले छोटे-छोटे आदमियों से भी भूदान ले लेते हैं। कोई आध एकड़वाला आदमी अपनी कुल जमीन दे दे तो भी वे ले लेते हैं, क्योंकि गरीब का दान यज्ञरूप होता है। हजार एकड़वाला अगर नौ सौ एकड़ भी दे दे, तो भी वह आपको अपना पेट काटकर नहीं देता। अपनी जीविका का ही उत्सर्ग नहीं करता, वह केवल अपने वैभव का अधिकांश आपको दे देता है। लेकिन अगर पाँच एकड़वाला ढाई एकड़ दे देता है, तो वह अपना आधा राज ही नहीं, आधा पेट आपको दे देता है। इसलिए उसका दान यज्ञरूप है। वह अपनी मालकियत की भावना की ही आहुति दे देता है।

भूमाता की पुकार

हम जिस समाज की स्थापना करना चाहते हैं, वह समाज मालिकों का नहीं उत्पादकों का होगा। अब इस वसुधा में कोई भूपति या नरपति नहीं होगा, सभी मानव भूमि-पुत्र होंगे। यह भूमि मालिकों से और पतियों से तंग आ गयी है। गाय का रूप धारण कर के मानो वह भगवान् से कह रही है कि मुझे अब इस पाप का भार हो रहा है। मेरे सभी पुत्र मेरे स्वामी बनना चाहते हैं। भगवान् ने उसे आश्वासन दे दिया है कि जिस प्रकार अब राज्यसत्ता किसी राजा की या राजवंश की नहीं रह गयी है, उसी प्रकार अब यह धरती भी किसी मालिक की नहीं रहेगी। धरती में से जो हूक निकली, वही भगवान् का संकेत बनकर अब आकाश में गूँजने लगी है।

मालकियत का निराकरण

सेण्ट सायमन के शब्द थे, "भविष्य का संसार स्वामियों (प्रोप्रायटर्स) का नहीं, उत्पादकों (प्रोड्यूसर्स) का होगा।" गांधी ने कहा था, "सभी सम्पत्तिधारी अपने-आप को सम्पत्ति के न्यास-रक्षक (ट्रस्टी) मानेंगे। जो बड़े सम्पत्तिधारी होंगे, वे अपनी सम्पत्ति का विसर्जन करेंगे और जिनके पास थोड़ी-सी ही सम्पत्ति होगी, वे भी अपने-आप को उसके मालिक नहीं समझेंगे।"

यज्ञ की व्यापकता

किसीने विनोबा से कहा कि "मुट्ठीभर बड़े-बड़े मालिकों की जगह दुनियाभर छोटे-छोटे मालिकों का जाल आप फैला देंगे तो आगे चल कर सहयोग के तत्त्व की

स्थापना करना मुश्किल हो जायेगा। ये सारे छोटे-छोटे मालिक अपनी मालकियत की रक्षा के लिए लड़ने खड़े हो जायेंगे।" इसलिए विनोबा ने अपने भू-दान-आन्दोलन में 'यज्ञ' का भी समावेश कर लिया है। यज्ञ में छोटे-बड़े सभी अपनी-अपनी इच्छा और शक्ति के अनुरूप हविर्भाग लाते हैं।

नमक-सत्याग्रह का दृष्टान्त

सांकेतिक आन्दोलन में पुण्य-भावना का महत्त्व बहुत अधिक होता है। पुण्य-भावना सारे वायु-मंडल को सुरभित कर देती है। गांधीजी ने चुटकीभर नमक बनाया। उससे यहाँ के कोई समुद्र तो नहीं सूख गये और न लवणागार ही खाली हुए। परन्तु उस छोटे-से संकेत ने सारे वायु-मंडल को अभिमंत्रित कर दिया। विनोबा का यह आन्दोलन विधायक संविधान की भावना से सारे वातावरण को सुगन्धित कर देगा।

बिना नैवेद्य के प्रसाद कहाँ

एक बात और। जब से राजसत्ता का अन्त हुआ और जनतंत्र कायम हुआ, तब से सत्ता और अधिकार के हिस्से के लिए सभी अपना-अपना हाथ पसारते हैं। उसी तरह संपत्ति के वितरण के लिए भी हरएक अपना-अपना छोटा-बड़ा पात्र लेकर लक्ष्मी माता के मन्दिर में पहुँच गया है। माता कहती है, "कोई चढ़ावा और नैवेद्य लायेगा, तभी तो प्रसाद बँटेगा!" लक्ष्मी के सभी छोटे-बड़े भक्त अपनी-अपनी चढ़ौतियाँ लेकर उसके चरणों में चढ़ायेंगे, तभी उसका भंडार भरेगा। संपत्ति के राष्ट्रीयकरण की यह मानवोचित प्रक्रिया विनोबा के भूदान-यज्ञ-आन्दोलन में समाविष्ट है। इसलिए हम कहते हैं कि वह क्रांति का अंकगणित भले ही हो, लेकिन उसका बीजगणित अवश्य है।

वर्धा १४-६-१९५२

४

शिक्षण

१. भारतीय राष्ट्र-धर्म की शिक्षा
२. विद्यार्थियों से
३. अध्यापक और राष्ट्रकारण
४. क्रांतदर्शी युवकों से
५. विवेकात्मक अनिर्णय
६. विद्या ददाति विनयम्

१. भारतीय राष्ट्र-धर्म की शिक्षा

एक राष्ट्र-प्रेमी प्रतिष्ठित मित्र शिकायत करते हैं कि आज भी कुछ शालाओं में नागरिक-नीति की अराष्ट्रीय पुस्तकें पढ़ायी जाती हैं। उनमें से कुछ पुस्तकों में तो यह भी कहा गया है कि हिन्दुस्थान एक राष्ट्र ही नहीं है। यदि यह सच है तो हमारी प्रान्तीय सरकारों को इसकी तरफ अवश्य ध्यान देना चाहिए। यह शिकायत मध्यप्रदेश के बारे में है। वह कहाँ तक वास्तविक है यह हम प्रत्यक्ष नहीं जानते। लेकिन उसकी तह में जो तत्त्व है उसका थोड़ा विचार करना जरूरी है। दूसरे सूबों का हाल हम नहीं जानते। आज तो हमारे देश के आठ प्रान्तों के शिक्षामन्त्री कांग्रेसवादी और राष्ट्रीयता को माननेवाले हैं।

हिन्दुस्थान को एक राष्ट्र मानने से इनकार करनेवालों में दो तरह के लोग हैं। एक तो वे विदेशी लेखक और राजनीतिज्ञ जिनके स्वार्थ का यह तकाजा है कि वे हिन्दुस्थान को एक अस्तव्यस्त जनपद बतावें,-जमीन का महज एक टुकड़ा जिसके न इतिहास है, न परम्परा, न कोई संयुक्त जीवन। लेकिन हम यह भी जानते हैं कि कुछ भारतवासी भी ऐसे हैं जो इसे एक राष्ट्र नहीं मानते। कम से कम एक ऐसे सुप्रसिद्ध नेता को हम जानते हैं जो यह कहते हैं कि भारतवर्ष एक राष्ट्र या एक देश नहीं है; वह तो भरतखंड है। अर्थात् भारतवर्ष एक महाद्वीप या संयुक्तराष्ट्र है। उनकी राय में इस देश के हरएक प्रान्त की अपनी-अपनी खास प्रकृति है, इतिहास है और परम्परा है। हरएक प्रान्त एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। वे प्रान्तीय प्रकृति के द्योतक कुछ मजे के और मोटे लौकिक प्रमाण भी देते हैं। उनकी राय में महाराष्ट्र की प्रकृति गंभीर, व्यवहारनिष्ठ और ठोस है; और गुजरात की छिछली, दिखाऊ और शेखी बताने की। इसका सबूत उनकी राय में इन दो प्रान्तों की स्त्रियों के आभूषण हैं। महाराष्ट्रीय महिलाओं के गहने छोटे, देखने में सीधे-सादे मगर ठोस और मजबूत होते हैं। गुजराती ललनाओं के अलंकार बड़े, ऊपर की टीमटामवाले मगर अन्दर से पोले होते हैं। इस पर से स्पष्ट है कि इस देश के प्रान्तों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। उसका कोई एक व्यक्ति नेता नहीं हो सकता। एक प्रान्त का नेता किसी दूसरे प्रान्त की जनता का अगुआ कैसे हो सकता है ? अखिल भारतीयता एक स्वप्न मात्र है। भ्रान्त कवि और बेवकूफ भावुक देशभक्त भले ही उसके गीत गाया करें। वास्तविकता के प्रदेश में यह "आकाशपुष्प" कभी आनेवाला नहीं है।

हमारी समझ में इन प्रसिद्ध नेता की यह राय भ्रान्तिमूलक और भ्रान्तिजनक है। भारतवर्ष की एकराष्ट्रीयता के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक प्रमाण विद्यमान हैं। उन प्रमाणों का विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति यह कहने का दुःसाहस नहीं कर सकता कि भारतवर्ष एक राष्ट्र नहीं है। भारतीय राष्ट्रीयता के विकास का इतिहास बहुत ही उद्‌बोधक और रोचक है। लेकिन उसके वर्णन का यह स्थान नहीं है। फिर भी इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, कि प्राचीन भारत में एक तरह का राष्ट्र-धर्म था

जिसके दो अंग थे : (१) सारा भारतवर्ष एक है। (२) सारा भारतवर्ष पवित्र है।

राष्ट्रीयता की भावना का सम्बन्ध मानवीय हृदय से है, इसलिए उस भावना का विकास भी मनुष्य-हृदय के विकास के साथ-साथ होता जाता है। प्राचीन लोक-शिक्षकों ने अपने ग्रन्थों और सार्वजनिक कथा-कीर्तन-प्रवचनों द्वारा पुराने राष्ट्र-धर्म का प्रचार किया। आज के लोक-शिक्षकों और पाठशाला के अध्यापकों को भी आज के राष्ट्रधर्म की शिक्षा देनी चाहिए। आज के भारतीय राष्ट्र-धर्म के प्रमुख लक्षण ये कहे जा सकते हैं :

(१) भारतवर्ष एक और अविभाज्य है। ईश्वर और मनुष्य-जाति की सेवा का वह हमारे लिए मुख्य साधन है।

(२) स्वदेशवासियों की सेवा स्वधर्म का प्रथम सूत्र है।

(३) भारत हमारी मातृभूमि होने के कारण उसके प्रति हमारा प्रेम असीम है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे देशों के लोगों के प्रति हम प्रेम न करें या उनका हित न चाहें।

(४) संसार के सभी देशों के प्रति समभाव रखते हुए भारत की स्वतंत्रता में बाधक होनेवाली सारी हस्तियों और संस्थाओं का हम शुद्ध साधनों से विरोध करेंगे।

(५) भारत से बाहर रहनेवाले लोगों की अपेक्षा सभी धर्म-जाति-वर्ण और वर्गों के भारतवासियों से हमारा संबंध अधिक स्वाभाविक और घनिष्ट है, और वे हमारे स्वाभाविक तथा सबसे निकट पड़ोसी होने के कारण हमारी सेवाओं के पहले अधिकारी हैं, यह न भूलेंगे। इसी का नाम स्वदेशी धर्म है।

आशा है पाठ्यपुस्तकों द्वारा इस विशुद्ध और स्वास्थ्यकर राष्ट्रीयता का प्रचार हो इसकी तरफ शिक्षा-मन्त्री ध्यान देंगे। जो पाठ्य-पुस्तकें नागरिक-नीति के बहाने अराष्ट्रीयता का प्रचार करें वे निषिद्ध मानी जानी चाहिए। नागरिकता और राष्ट्रीयता अविरुद्ध ही नहीं बल्कि अभिन्न हैं। संसार में आज राष्ट्रवाद के नाम पर जिस संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थ का प्रचार हो रहा है उसका विकास हम भारत में नहीं करना चाहते। राष्ट्रवाद विश्वहित का विरोधी है। राष्ट्रधर्म उसका पोषक है।

१२-११-१९३८

२. विद्यार्थियों से

नागपुर प्रांतीय विद्यार्थी परिषद् के अध्यक्ष के पत्र के उत्तर में मैंने जो पत्र लिखा उसका अनुवाद यहाँ दे रहा हूँ-

तुम्हारा पत्र मिला। विद्यार्थी कांग्रेस की बागडोर फिर से तुम्हारे हाथों में आ गयी यह नागपुर में ही मालूम हो गया था। किसी भी अच्छे अभिक्रम के लिए मेरी 'शुभकार्येषु सर्वदा' कल्याण कामना रहती ही है।

किसी भी संस्था में जान डालने के लिए उत्कट और निश्चित निष्ठा तथा नित्य विकसित होनेवाली प्रतिभा की आवश्यकता होती है। प्रायः तुम ऐसा देखोगे कि जिन लोगों में किसी भी प्रकार की जागृत निष्ठा होती है उनमें सामर्थ्य और तेजस्विता पायी जाती है, साम्यवादी, समाजवादी और जातिवादी संस्थाओं में जो आवेश और सजीवता दिखाई देती है उसका भी यही कारण है। विद्यार्थी कांग्रेस को असंदिग्ध और सजीव निष्ठा की जरूरत है। पूज्य विनोबा ने इस विषय में मार्ग-दर्शन किया ही होगा।

जहाँ निष्ठा की कमी होती है वहाँ एक प्रकार की सार्वत्रिक शिथिलता आ जाती है। विद्यार्थी कांग्रेस एक कांग्रेसनिष्ठ संस्था है। और कांग्रेस तो अब 'रानी' हो गयी है। इसलिए कांग्रेस में जो व्यक्ति हैं उनका तो 'मैं रानी तू रानी' वाला हाल हो रहा है। पानी लाने के लिए कोई भी खाली नहीं है। दुर्भाग्यवश तुम्हारी विद्यार्थी कांग्रेस भी इसमें अपवाद नहीं है। निकृष्ट सत्तावाद अब तुम्हारी संस्था में भी गजब ढा रहा है।

साम्यवादी विद्यार्थी फेडरेशन, समाजवादी युवक संघ और हिंदुत्ववादी भारतीय विद्यार्थी कांग्रेस को अब तक सत्ता के पिशाच ने नहीं पछाड़ा है। वे सत्ता-प्राप्ति के लिए उत्कंठित हैं इसलिए उनको भूमिका पराक्रम और पुरुषार्थ की जान पड़ती है। उन्हें तुम्हारे भाषावाद से मतलब नहीं, बहुजनवाद की परवाह नहीं। वे सत्ता ही प्राप्त करना चाहते हैं, इसलिए सारे सत्ताकांक्षी दलों का एकीकरण समान निषेधात्मक भूमिका पर हो सकता है। उसमें और तुम में जो भेद है उसकी मेरी यह मीमांसा है।

इसका उपाय ? - उपाय है। वर्तमान सरकार के प्रति अत्यधिक तादात्म्य की भावना बढ़ाने में कोई सार नहीं। सरकार का समर्थन करने की अनावश्यक जिम्मेवारी तुम्हें स्वीकारने की जरूरत नहीं। आत्मसमर्थन की या बचाव की भूमिका जिसे स्वीकारनी पड़ती है वह स्थितिवाही और प्रगतिविरोधी बनता जाता है। इसलिए आत्म-समर्थन की भूमिका स्वीकारने की नौबत जहाँ तक हो सके, नहीं आने देनी चाहिए। मौजूदा सरकार का विरोध करनेवालों के कथन में जो तथ्यांश हो उसे खुले दिल से मंजूर कर लेना चाहिए और आलोचकों की भूमिका में जो दोष हों वे भी निर्विकार वृत्ति से बता देने चाहिए। आज की सरकार अक्षम और अयोग्य भले ही हो, लेकिन हमको तो इसीका विचार करना चाहिए कि उसकी जगह लेने के लिए अधिक काबिल और समर्थ व्यक्ति कैसे तैयार होंगे। इसके अनुकूल परिस्थिति उपस्थित करने के प्रयत्न में हमें जुट जाना चाहिए। हम कोई कांग्रेस सरकार के वकील नहीं हैं और न भाट ही हैं।

इस वक्त सब से बड़ा खतरा राष्ट्रीय एकता के लिए है। यह सत्ता के बँटवारे का पर्व है। हरएक को इसी की फिक्र है कि मुझे ज्यादा से ज्यादा हिस्सा कैसे मिले ? मंदिरों में प्रसाद लेते समय हम भाई के, बहन के और बूढ़ी माँ के— जाने कितने व्यक्तियों के नाम पर प्रसाद लेते हैं। ठीक उसी तरह भाषा के, जाति के, व्यवसाय के, संस्कृति के और संप्रदाय के नाम पर सत्ता का हिस्सा माँगने के लिए हम हाथ बढ़ा रहे हैं। राज्य का हिस्सा प्राप्त करने की नीयत से हम राष्ट्र के टुकड़े करने पर भी तुले

हुए हैं।

देश के जीवन में अखिल भारतीयता के आलंबन और चिह्न किस तरह जीवित रहेंगे इस एक ही बात पर हमको अपना सारा ध्यान और शक्ति लगा देनी चाहिए। यदि हम ऐसा करेंगे तो हमें राष्ट्र-रक्षण के महत् कार्य का श्रेय अवश्य मिलेगा। क्या यह कार्य कम स्फूर्तिदायक और कम उदात्त है ? सत्तावाद की गैले में कांग्रेस में बेहद जातिवाद फैला। संप्रदायवादी संस्थाओं में अब तक उसकी गुंजाइश नहीं है। इसलिए आज कांग्रेस सांप्रदायिक संस्थाओं से भी घटिया मालूम होने लगी है। उसे इस कर्दम में से उबारकर उसका तेज बढ़ाना तुम्हारा काम है। यदि यह तुमसे न हो सका तो विद्यार्थी कांग्रेस की गति ठिठक गयी ऐसा बेशक समझो।

अगर तुम्हारे हृदय में ऐसी अदम्य आकांक्षा पैदा हो कि हम भारत का एक राष्ट्रीयत्व चरितार्थ करके दिखायेंगे, आंतरप्रांतीय जीवन के साधन, अवलंबन और प्रतीक ज्यों के त्यों बनाये रखेंगे, भविष्य के भारत में जिस तरह न कोई ब्राह्मण होगा न भंगी, न कोई अमीर होगा न गरीब उसी तरह न कोई मराठी होगा न गुजराती, ऐसा दिन हम अपनी आँखों से देखेंगे; तो बात की बात में हमारे दुर्दिन का अन्त होगा।

८-८-१९४९

३. अध्यापक और राष्ट्रकारण

हाल ही में मध्यप्रदेश के किसी शहर में एक पाठशाला का उत्सव था। वहाँ का सारा वायुमण्डल राष्ट्रीयता से ओतप्रोत था। विद्यार्थी और पाठकों की राष्ट्रीय वृत्ति से सन्तोष हुआ। लेकिन उसी शहर में एक ऐसे अध्यापक भी मिले जिन्हें शायद यह सब पसन्द नहीं था। वे यह मानते थे कि विद्यार्थियों का एकमात्र व्यवसाय और व्यसन विद्याध्ययन-अर्थात् पाठ्य पुस्तकों का श्रवण और मनन—ही होना चाहिए। अध्यापकों को या विद्यार्थियों को राष्ट्रीय आन्दोलन से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। उनको तो अपनी सारी शक्ति और ध्यान अपनी पढ़ाई पर केन्द्रित करना चाहिए। अंधेरी लगे हुए घोड़े की — हॉर्स इन ब्लिंकर्स— की नाईं उन्हें एक ही सीध में चलना चाहिए। इधर-उधर आँखें दौड़ाने से उन्हें क्या मतलब ?

यह सच है कि राजनैतिक वायुमण्डल में रोजमर्रा जो हेरफेर होते रहते हैं उनका असर हमारी शालाओं और विद्यालयों के अध्यापकों के विचारों पर या आचार पर कम से कम होना चाहिए। यही नहीं, सरकार या अधिकारी बदलते ही जो अपने विचारों में सुविधा के लिए समयानुरूप परिवर्तन कर लेते हैं वे अध्यापक का पवित्र काम करने के लायक ही नहीं है। बालकों और युवक-युवतियों के अध्यापक यदि राजनैतिक गिरगिट

बन जायँ तो हमारी पाठशालाएँ राजनैतिक दलों के प्रचार के अखाड़े हो जायेंगी। जिला कौन्सिल या नगर-पालिकाओं के जो सदस्य या अधिकारी अध्यापकों का उपयोग अपने चुनाव के काम में करना चाहते हैं और दुध-मुहे बालकों को अपने प्रतिस्पर्द्धियों के विरुद्ध प्रचार के काम में लगाते हैं वे खुद अपने बालकों का और देश का द्रोह करते हैं।

लेकिन जो देश पराधीनता में हो और स्वतंत्रता के लिए तड़प रहा हो वहाँ के युवक और अध्यापक राजनैतिक आन्दोलन से एकदम दूर तो नहीं रह सकते। पराधीन देश में राजनीति से परे कोई हो ही नहीं सकता—धारासभाओं के अध्यक्ष भी नहीं। विद्यार्थियों और अध्यापकों को पक्षभेद के आन्दोलन में और पक्षातीत आन्दोलन में विवेक अवश्य करना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे दलबन्दी से, और पक्षापक्षों के अधिकारारूढ़ होने के कारण, या अधिकारच्युति के कारण होनेवाले परिवर्तनों से कोसों दूर रहें। कोई अधिकारी या नेता उन्हें उसमें उलझाना चाहे तो दृढ़ता से इन्कार करें।

परन्तु साथ ही साथ उन्हें इस बात को भी खूब समझ लेना चाहिए कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन से— स्वतन्त्रता के आन्दोलन से— अलिप्त हरगिज नही रह सकते। हमें यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ अध्यापक भारतवर्ष की इस नयी और जागृत वृत्ति से समरस नहीं हुए हैं। पुराने जमाने में सार्वजनिक जीवन में और राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवाले अध्यापक सरकार की आँख में खटकते थे। अध्यापकों को उनके ऊपरी अफसर मुमानियत करते थे। लेकिन आज तो जमाना बदल गया है। आठ सूबों में सरकार ही चाहती है कि विद्यार्थी और अध्यापक राष्ट्रकारण में सक्रिय दिलचस्पी लें। फिर भी आज कई शिक्षक अपनी पुरानी आदत से मजबूर हैं। वे अपनी पाठ्य-पुस्तकें और विद्यालय की चहार-दीवारी से परे दृष्टि डालना पाप समझते हैं। राष्ट्रीय नेताओं के व्याख्यानों से उन्हें परहेज है। यह स्पष्ट है कि इससे उनके अपने दिल तंग हो जाते हैं और उनकी शिक्षा महज तोते की निष्प्राण बकवास।

यह परिस्थिति शोचनीय और भयावह है। इन पुराने संस्कारों के मर्ज से ग्रस्त अध्यापकों से अनुरोध है कि वे अपने उदीयमान राष्ट्र की उन्नतिशील भावनाओं और आकांक्षाओं से समरस होने की चेष्टा करें और राष्ट्रीय आन्दोलन में क्रियात्मक रुचि बतावें। ●

४. क्रांतदर्शी युवकों से

साकार जीवन का प्रतीक

जोश, बेचैनी और निरन्तर गतिशीलता तरुणाई के प्रमुख लक्षण हैं। इनके सिवा भी दूसरी विशेषताएँ तरुणाई में पायी जाती हैं, लेकिन इन विशेषताओं की तरफ हमारा ध्यान अधिक जाता है। स्वस्थ बालक में लगातार हलचल करने की आदत हम देखते हैं। जब वह सोया न हो, तब अगर वह चुपचाप पड़ा रहता है, तो हमें शक होने लगता

है कि इसे कुछ हो गया है। देश की तरुणाई के लिए भी यही नियम लागू है। तरुण चुपचाप नहीं बैठ सकता। उसका जोश उमड़ता रहता है। कुछ-न-कुछ करने की प्रेरणा उसे चंचल और अशान्त करती रहती है। जब वह चुपचाप बैठता है, तब या तो वह हताश होकर निष्क्रिय हो जाता है या फिर विचारपूर्वक थोड़ी देर के लिए संयम करता है। बालक में और तरुण में यह सबसे बड़ा अंतर है कि बालक की अविरत क्रियाशीलता में भी कोई उद्देश्य या हेतु नहीं होता और न उसकी निष्क्रियता में कोई प्रयोजन होता है। बालक केवल प्रकृति का अनुसरण करता है, परन्तु तरुण में बुद्धि की तरलता और विवेकशीलता होती है। यदि ये न हों, तो उसमें और बालक में कोई अन्तर नहीं रहेगा। शारीरिक शक्ति अधिक होने के कारण तरुण बालक से ही अधिक बालिश और उत्पाती सिद्ध होगा। मुँह की खाकर चुप हो जाना अशक्ति का और पराजय का लक्षण है। प्रयोजनपूर्वक मौनव्रत रखना शक्ति का और विजय का लक्षण है। एक का नाम दब्बूपन है, दूसरे का संयम।

ईश्वर का निर्वासन

यह सब लिखने का कारण आजकल सब तरफ देश के तरुणों में दिखाई देनेवाली विवेकभ्रष्ट निरंकुशता और विघातक उद्दण्डता है। इसका मूल कारण खोजने की आवश्यकता आज पहले से कहीं अधिक महसूस होती है। पुराने जमाने में ईश्वर की इच्छा यानी दैवी योजना में हरएक का विश्वास होता था। अब वैज्ञानिकता के उत्कर्ष के साथ-साथ हमारी मानसिक सृष्टि में से ईश्वर करीब-करीब निर्वासित हो गया है। विज्ञान ने हमको सिखाया कि यह पृथ्वी किसी जमाने में सूर्य से निकला हुआ प्रज्ज्वलित वायु का एक नन्हा-सा झकोरा है और वह ठंडा होते-होते किसी दिन मृत हो जानेवाला है। यदि यह वस्तुस्थिति है, तो मनुष्य की बुद्धि और शक्ति के प्रयोग के लिए न कोई अवसर रह जाता है और न प्रयोजन, बल्कि यह कहना चाहिए कि बुद्धि की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अंध-निसर्ग की योजना में और संवेदनाहीन गतिविधि में मनुष्य का स्थान शतरंज की गोटियों से या बिलियर्ड की गोलियों से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता।

नयी निष्ठा का अभाव

पुरानी धार्मिक धारणाओं को और नैतिक सिद्धान्तों को बालिश तथा अवैज्ञानिक समझ कर हम छोड़ देते हैं, लेकिन उनकी जगह कोई नयी निष्ठा देने की क्षमता अब तक विज्ञान ने नहीं बतलायी हैं। नतीजा यह है कि सारे के सारे विज्ञान विश्वव्यापी घोर तिमिर में रास्ता टटोलने की होड़ में व्यस्त हैं। अंधेरे में कोई एक कदम आगे है, कोई एक कदम पीछे। मनुष्य की बुद्धि नितांत निराशावाद की अंतहीन गर्त में गोते खा रही है। निराशा का ही नाम बुद्धिनाश है। हमारे देश का तरुण आज हतबुद्धि हो रहा है। क्षितिजव्यापी घने अंधेरे में वह अपने जीवन की सफलता उस विज्ञान के सहारे खोज रहा है, जिसने आज तक यह सिद्ध करने की कोशिश की कि बुद्धि जड़-द्रव्यों में से पैदा हुई है।

फौरन इलाज की जरूरत

जीवन-विषयक विफलता में से उद्वेग और कटुता पैदा होती है। तरुणों को अपना जीवन निष्फल और निरर्थक मालूम हो, इसमें देश के धुरंधरों का विचार-दारिद्र्य तो प्रकट होता ही है, परन्तु साथ-साथ जो तरुण वृद्धों को प्रतिगामी, जीर्णमतावलंबी कहते नहीं थकते, उनकी बौद्धिक अक्षमता का भी यह द्योतक है। आजकल विद्यार्थियों के जो आन्दोलन जगह-जगह अनपेक्षित रूप से फूट पड़ते हैं, उनको देख कर चित्त विपण्ण हो जाता है। कुछ ऐसा मालूम होने लगता है कि क्या विचारशून्य गतिशीलता ही इस विज्ञान-प्रधान युग की अनन्य विशेषता है ? यदि विद्या का अनुशीलन करनेवाले विद्यार्थी यह समझते हैं कि देश के नेता भ्रमप्रमादादि दोषों से परिपूर्ण हैं, तो उन्हें स्वयं भ्रमरहित और प्रमादरहित विचार-शक्ति का विकास करना चाहिए। केवल उत्साह और आवेश से इस प्रकार की शक्ति का विकास कदापि नहीं हो सकता। उसके लिए विवेक और संयम की आवश्यकता है। संयम और शक्ति के संयोग से पुरुषार्थ पैदा होता है। आज हमारे देश को सुबुद्ध पराक्रम की आवश्यकता है, उच्छृङ्खल आवेश की नहीं। युवकों को और विद्यार्थियों को भला-बुरा कहने से कोई काम नहीं बननेवाला है, इसलिए यहाँ बहुत आस्थापूर्वक और स्नेहपूर्वक उन मूलभूत कारणों का निर्देश करने की चेष्टा की है, जिन कारणों की बदौलत आज सार्वत्रिक बौद्धिक अराजकता और विवेकशून्यता का प्रलयंकारी तांडव चल रहा है। युवकों के और विद्यार्थियों के नेताओं से सविनय अनुरोध है कि वे समय रहते इस व्याधि का सद्यःफलदायी उपचार करें।

राँची की घटना

राँची का एक समाचार है कि लड़कियों के एक कार्यक्रम पर लड़कों ने एक बड़ी संख्या में धावा बोल दिया और मजा यह है कि ये हमलावर कोई शोहदे या गुंडे नहीं थे, वे अधिकतर विद्यार्थी ही थे। पुराने जमाने में जो लड़कियाँ-लड़के एक ही गुरु के चरणों में बैठ कर विद्या-संपादन करते थे, वे गुरुभगिनियाँ और गुरुबंधु समझे जाते थे। हम यह तो कल्पना कर सकते हैं कि बहन अपना घरौंदा बना कर उसमें कोई खाने-पीने का सामान जुटाये और भाई को उसमें आने से रोके तो नटखट भाई गुस्से में आकर उसका घरौंदा ही तोड़ दे और उसका खाने-पीने का सामान गट कर जाय। लेकिन जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह मर्कटलीला अबोध बालकों को ही शोभा देगी। जो विद्यार्थी अपने विविध आन्दोलनों में समाज-सेवा की तमन्ना का दम भरते हैं और मौके-बे-मौके अपने घर-बार तथा माँ-बहनों की प्रतिष्ठा के संरक्षक बनने की डींग हाँकते हैं, वे ही जब इस प्रकार के अत्याचारी उत्पात करने से नहीं हिचकते, तो समाजस्वास्थ्य के विकास में उनसे देश को क्या आशा हो सकती है ? आज हम सहशिक्षण और सहजीवन के उत्क्रांति-काल में रह रहे हैं। स्त्री और पुरुष की संयुक्त नागरिकता का आदर्श हमें अपने गणतंत्र में सिद्ध करना है। पुराणमतवादी नागरिक पुरुष

की बराबरी में स्त्री की भूमिका मानने के लिए शायद ही तैयार होंगे। वे तो उसे कुटुंबिनी समझते हैं, नागरिक नहीं। उनके मत से स्त्री घरनी है, उसका स्थान घर में है। घर से बाहर निकलते ही उसकी कुलीनता में बट्टा लग जाता है। हमने अपने नये संविधान में और उससे कहीं पहले अपनी सरकारी और गैरसरकारी विधानों में स्त्री को नागरिकता के संपूर्ण अधिकार दे दिये। हमारे नवयुवक और विद्यार्थी अपने-आप को क्रांतिवादी और प्रगतिवादी बतलाते हैं। क्या उन्होंने यह निश्चय कर लिया है कि उनकी बहनों को नागरिकता के जो अधिकार,अर्थात् इस भारतमाता की संतान के नाते विरासत के जो समानाधिकार दिये गये हैं, उनका उपभोग अपनी बहनों को वे हरगिज नहीं करने देंगे ? भाई जब अपनी बहन के स्वत्वों का अपहरण करने लगता है, तो हर पिता का चित्त सहज ही चिंताक्रांत हो जाता है। हमारे विद्यार्थी हमारी अपेक्षा अधिक क्रांतदर्शी होने का दावा करते हैं। हम क्या उनसे नैतिक और नागरिक उत्पात-प्रवीणता की ही अपेक्षा रखें या यह मधुर आशा रखें कि वे सहनागरिकत्व के विकास में हमारी अपेक्षा अधिक नहीं तो कम से कम एक कदम आगे बढ़ेंगे ?

९-१०-१९५०

५. विवेकात्मक अनिर्णय

खुला दिल और खाली दिल

दार्शनिक राधाकृष्णन् ने एक और विचारप्रेरक बात कही। कॉन्स्टिट्यूशन क्लब में विदाई के भाषणों का जवाब देते हुए उन्होंने कहा, मैं शिक्षक हूँ। मैं खुला दिल लेकर रूस जा रहा हूँ, लेकिन खुले दिल से मतलब खाली दिल का नहीं है। खुला दिल यानी कोरा दिल नहीं है। खुले दिल से मतलब है अनाग्रही वृत्ति, नये-नये विचारों को ग्रहण करने की शक्ति और तत्परता रखनेवाला चित्त।

जिसका स्पष्टीकरण करते हुए डॉक्टर राधाकृष्णन् ने कुछ विनोद में कहा, "मैं शिक्षक हूँ और शिक्षक का एक लक्षण है कॉन्शिएन्शस इन्डिसीशन—विवेकात्मक अनिर्णय।"

डॉक्टर राधाकृष्णन् के इस कथन में बहुत बड़ा तत्व है। बौद्धिक अहंकार में से बौद्धिक आग्रह पैदा होता है। और बौद्धिक आग्रह में से असहिष्णुता पैदा होती है जो भिन्न विचार या भिन्न सिद्धांत अथवा भिन्न मंतव्यों को सहन नहीं कर सकती। इस बौद्धिक अनुदारता के कारण संसार में संप्रदायांधता और पांथिक आक्रमण की बीमारी फैली, और हमारे सांस्कृतिक जीवन में संकीर्ण दड़बे बन गये। बौद्धिक अनाग्रह में से बौद्धिक उदारता का जन्म होता है। यह बौद्धिक उदारता दूसरों के मतों, मंतव्यों और

दर्शनों को समझने के लिए नित्य तत्पर रहती है। इसकी बदौलत विचारों का विकास और विस्तार होता है।

अनिष्ठा नहीं, अनाग्रह

परन्तु यह संशयात्मा की संदिग्धता या दुर्बल चित्त की अनिष्ठा नहीं है। पुराने शास्त्रों ने कहा है कि संकल्प-विकल्प तो मन के गुण हैं। बुद्धि का गुण निश्चय है। बुद्धि जितनी निश्चयात्मिका हो उतनी ही वह विकसित होती है। विवेकात्मक अनिर्णय से डॉक्टर राधाकृष्णन् का मतलब सार्वत्रिक संशयशीलता और विश्वतोमुखी अनिष्ठा नहीं था। इसलिए उन्होंने कहा कि खुला दिल खाली दिल नहीं है। जिसकी अपनी निष्ठा असंदिग्ध और निश्चयात्मक न हो उसकी बुद्धि अनाग्रही हो ही नहीं सकती। बौद्धिक अनाग्रह और बौद्धिक उदारता सर्वोदय की संस्कृति का मूलभूत सिद्धांत है। अहिंसा की भाषा में हम उसे बौद्धिक अहिंसा कह सकते हैं।

४-९-१९४९

६. विद्या ददाति विनयम्

विद्या की बुनियाद : विनय

अधिकारी और संस्कारवान् विद्या-सम्पन्न व्यक्तियों का कहना है कि विनय विद्या का साधन है और उसका फल भी। विद्या विनय से प्राप्त होती है और वह विनय देती भी है। इसलिए जहाँ-जहाँ विद्या का विधान है, वहाँ नम्रता और विनय का भी अनुशासन है। बिना विनय के और नम्रता के विद्या प्राप्त नहीं होती, यह सिद्धान्त कई आख्यायिकाओं, दृष्टान्तों और कथाओं के द्वारा समझाने की कोशिश हरएक धर्मग्रन्थ में की गयी है। 'केनोपनिषत्' में अहंकारी देवों के गर्व-परिहार का बड़ा बोधप्रद उपाख्यान है। जब वे सारे देव निरहंकार और नम्र होकर उमा की शरण में जाते हैं, तभी वे विद्या के अधिकारी माने जाते हैं।

दूसरे उपनिषदों में भी विद्या की प्राप्ति के लिए विनय का महत्त्व कई तरह से बतलाया और समझाया गया है, 'तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं'— 'उस ब्रह्म को जानने के लिए वह हाथ में समिधाएँ लेकर ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरु के ही पास जाय।' यह उपनिषत् का आदेश और 'तद्विद्धि प्रणिपातेन् परिप्रश्नेन सेवया'— 'उसे प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा से जान', यह गीता का आदेश विनय को पहला स्थान देता है। विद्या-प्राप्ति का आरम्भ और परिपाक दोनों, विनय में होते हैं।

विद्या का एक साधन : संयम

पुरानी जीवन-व्यवस्था में विद्या-प्राप्ति की अवधि ब्रह्मचर्याश्रम कहलाती थी। बालक का जब उपनयन होता था, तो उसके हाथ में एक दण्ड दिया जाता था। इसलिए नहीं कि वह डण्डा उठाकर उद्दण्ड बने, बल्कि इसलिए कि वह अपने-आप को काबू में रख सके। वह दण्ड निर्भयता का प्रतीक था, उच्छृंखलता का नहीं। दण्ड हाथ में लेते हुए ब्रह्मचारी प्रतिज्ञा करता था—

अदान्ते दमयित्वा मार्गे संस्थापयन् स्वयम्।
दंडः करे स्थितो यस्मात् तस्माद् रक्षयतो भयम्।

—अर्थात् 'अपनी उद्दण्डता संयत करके निर्भय होने की प्रतिज्ञा ब्रह्मचारी करता है।'

मतलब यह कि विद्या के दो प्रधान साधन थे, विनय और संयम। विनय से सांस्कृतिक गुणों का विकास होता है और संयम से चारित्र्यबल प्राप्त होता है। उससे मनुष्य 'अकुतोभय' बन जाता है।

असंयम की पराकाष्ठा

परन्तु आज हम देखते हैं कि सभी मूल्य उलट-पुलट हो रहे हैं। जीवन प्रतिष्ठाहीन होता जा रहा है। सभी क्षेत्रों में निरंकुशता और उच्छृंखलता का दौर है। सबसे अधिक विषाद और भय का विषय यह है कि यह अनियंत्रण की वृत्ति हमारे विद्यापीठों, विद्यालयों और विद्यामन्दिरों में भी तेजी के साथ बढ़ रही है। यह वस्तुस्थिति यदि बहुत दिनों तक चलती रही, तो इस देश में विद्यार्जन और विद्यावितरण का भविष्य उज्ज्वल नहीं। यह तो मानी हुई बात है कि मूल दोष वर्तमान शिक्षण-पद्धति का ही है। उसमें विद्या या ज्ञान का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि परीक्षा और प्रमाणपत्रों का है। इसलिए विद्यार्थी परीक्षा के समय उधार लिये हुए या चुराये हुए ज्ञान का उपयोग करने में भी चतुराई समझता है और यदि परीक्षा में अधिक से अधिक विद्यार्थी सफल हो जायँ तो शिक्षक अपने-आप को कृतकृत्य मानता है। न विद्यार्थी को विद्याप्राप्ति की परवाह है और न शिक्षक को विद्यादान की चिन्ता!

शिक्षक और विद्यार्थियों में भी संघर्ष

नतीजा यह हुआ कि विद्या के क्षेत्र में भी दण्ड की सत्ता प्रस्थापित हो गयी। छड़ी, शिक्षक का आयुध और शैक्षणिक अनुशासन का प्रतीक बन गयी। पोथी, छड़ी और पाठक का साहचर्य अभेद्य माना गया। 'पुस्तकस्था विद्या' छड़ी के द्वारा ठूँस-ठूँस कर बालकों के दिमाग में जबरदस्ती भरी जाने लगी। जो चीज जबरदस्ती ठूँसी जाती है, उसके लिए प्रायः अरुचि ही पैदा होती है। विद्या के लिए अरुचि तथा शिक्षक के लिए अप्रेम आज के विद्यार्थियों के प्रधान लक्षण हैं। विद्या-मंदिरों में शिक्षक और विद्यार्थियों के बीच एक तरह का वर्ग-युद्ध नित्य चलता रहता है। शिक्षक को अधिक से अधिक

हतवीर्य और हतप्रभ करने में विद्यार्थी गौरव का अनुभव करता है। अनुशासन का प्रतीक छड़ी है, इसीलिए उद्दंडता के साथ छड़ी का निरादर करने में विद्यार्थी अपनी शान समझता है। विद्यालय में अनुशासन और व्यवस्था रखना शिक्षक अपना कर्तव्य समझता है। शायद इसीलिए व्यवस्था और अनुशासन का भंग करना विद्यार्थी अपना कर्तव्य समझता है। परिणामस्वरूप विद्यालयों और छात्रालयों में वे ही दृश्य दिखायी देते हैं जो कारखानों में और नौकरियों के क्षेत्रों में दिखायी देते हैं। हड़तालों का बाजार गर्म है।

असंतुष्ट शिक्षक की असमर्थता

पहले विद्यार्थी 'समित्पाणि' होकर विनीत भाव से गुरु के यहाँ जाता था, उसकी सेवा-टहल करता था और गुरु की मर्जी देखकर अवसर पाकर विद्या का ग्रहण करता था। आज भी जब कोई व्यक्ति अपने मतलब की या रुचि की कला अथवा विद्या किसी दूसरे से सीखने जाता है तो वह उस्ताद या शिक्षक को प्रसन्न रखने की चेष्टा करता है। असन्तुष्ट शिक्षक विद्यादान करने में असमर्थ होता है।

सद्-असद् विवेक

कारखानों में हड़ताल होती है। मजदूर और कारीगर कहते हैं, "यह लो, हम उत्पादन नहीं करेंगे।" मालिक और समाज, दोनों को वे संकट में डाल देते हैं। विद्यादान की भूमिका इससे बिलकुल अलग प्रकार की है। अबोध बालक को विद्यादान करना समाज का कर्तव्य है। इसलिए वह बालक को बहला कर और प्रसन्न रख कर तथा कभी-कभी घेर-घेर कर भी, विद्या सिखाने के लिए बाध्य है। लेकिन प्रौढ़ विद्यार्थी यदि रूठ कर कहे कि "मैं विद्या नहीं सीखूँगा" तो शिक्षक को विषाद अवश्य होगा। परन्तु वह कह सकेगा "ठीक है, मर्जी तुम्हारी, अपना हित-अनहित तुम पहिचानते हो। तुम नहीं सीखना चाहते तो दूसरे तत्पर विद्यार्थी का आ जायेंगे और यदि कोई नहीं सीखना चाहेगा तो भला बलपूर्वक विद्यादान कैसे किया जा सकता है ?"

ज्ञान की भी दूकान !

लेकिन आज तो शिक्षकों की भी हड़तालें होती हैं और विद्यार्थियों की भी हड़तालें होती हैं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था की यह विशेषता है कि उसमें विद्या-मंदिर भी ज्ञान की दूकान बन जाती है। शिक्षक अपना ज्ञान बेचता है, विद्यार्थी उसे खरीदता है। होटल में जिस प्रकार वह अपनी शर्तों पर भोजन करना चाहता है, उसी प्रकार इन ज्ञान-पण्यों में भी वह अपनी शर्त पर ज्ञान मोल लेना चाहता है। इससे विद्या अर्थकारी होने के बदले अनर्थकारी होती है। उससे सांस्कृतिक लाभ क्वचित् ही होता है।

भूत के हाथ मशाल

अंग्रेज दार्शनिक हॉब्स् (Hobbs) जब लॉक लेव्हल कैसल में रहता था तो

किताबें पढ़-पढ़ कर उसकी तबीयत ऊब गयी। उसने लिखा कि "मैं अब उस कूड़े करकट से दूर रहता हूँ। मैं सिर्फ एक ही किताब पढ़ता हूँ, और वह है 'यूक्लिड'। लेकिन अब मेरी तबीयत उससे भी ऊबने लगी है, क्योंकि उसने बेवकूफों को हुज्जत करना सिखाया है।" हमारे राष्ट्रपिता हमें सत्याग्रह का अनुपम अस्त्र दे गये। लेकिन वे क्या जानते थे कि हम उनका ऋण इसी तरह से चुकायेंगे, जिस तरह से दलीलखोर लोग 'यूक्लिड' का ऋण चुका रहे हैं। हमारे राष्ट्रपिता तो हमें हनुमान समझा कर ही हमारे हाथ में मशाल दे गये हैं। वे क्या जानते थे कि हम अपने-आप को हनुमान्‌जी के सिर्फ ज्ञाति-बांधव ही सिद्ध करेंगे।

सत्याग्रह और असहयोग जन-क्रान्ति के अनूठे अमोघ अस्त्र हैं। लेकिन उनके प्रयोग का अधिकार नैष्ठिक सहयोग और नियम-पालन से प्राप्त होता है। उपवास और भूखेपन में बहुत बड़ा अन्तर है। उपवास से मनोबल बढ़ता है, भूखेपन से क्षीणता आती है। विश्वामित्र ने उपोषण किये, उसका तपोबल और तेज बढ़ा। लेकिन जिस दिन भूख ने सताया उस दिन उसे पर्युषित मांस चुराने में भी आपत्ति नहीं हुई। सत्याग्रह की पात्रता भी तदनुकूल गुण-विकास से प्राप्त होती है। क्रोध और उद्वेगजन्य प्रतिकार सत्याग्रह नहीं है। गांधीजी ने निःशस्त्र प्रतिरोध और सत्याग्रह के भेद की मीमांसा करते हुए इस बात पर बार-बार जोर दिया है। सत्याग्रही प्रतिकार से सत्याग्रही की और उसके प्रतिपक्षी की, दोनों की शक्ति बढ़ती है।

पंचायती राज्य के लिए खतरा

लोकराज्य की स्थापना के बाद जनता में लोकराज्य के उपभोग और लोकसत्ता के प्रयोग के अधिकार का विकास करना उन नवयुवकों का विशिष्ट अधिकार है, जिनका नया खून है, नया जोश है, नया दिमाग है और जो क्रांतिकारी होने का दावा करते हैं। अनियंत्रित आवेश यौवन का गुण नहीं, उसका दोष है। यदि हमारे सुविद्य विद्यार्थी और सुबुद्ध युवक स्वच्छंदता और स्वैर वृत्ति के आदर्श ही जनता के सामने पेश करते रहेंगे तो हमें पुराने नीतिकारों के साथ कहना पड़ेगा कि चाकू, कैंचियाँ और हँसिये बच्चों के खिलौने नहीं हैं।

लोकराज्य पंचों का राज्य है। कहावत है, पंचों के मुँह से ईश्वर बोलता है। ईश्वर का वास्तविक मुख, न ब्राह्मण है न अग्नि। वह भगवान् शिवजी की तरह पंच-मुख है। इसीलिए विष्णु की पवित्र ध्वनि से दश-दिशाओं को प्रतिध्वनित करानेवाला पवित्र शंख 'पांचजन्य' कहलाया। लेकिन यदि 'पांचजन्य' में से भगवान् विष्णु की ध्वनि न निकले तो वह महज 'लपोडशंख' हो जायगा। गांधीजी के दिये हुए अव्यर्थ अस्त्रों के साथ खिलवाड़ करने की जो वृत्ति आज जोर पकड़ रही है, उससे पंचायती-राज का पर्यवसान 'चौपट राज' में होने का डर है, इसलिए यह सावधानी की सूचना देना आवश्यक मालूम हुआ।

अप्रैल, १९५०

५

भाषा

१. भाषावाद का पिशाच
२. भाषा के नये-नये कुरुक्षेत्र
३. संमिश्र प्रांत में भाषिक सहयोग
४. भाषा के क्षेत्र में स्पर्शभावना

१. भाषावाद का पिशाच

दीगर मूल्यों का बाजार गर्म

अभी उस दिन एक बहुत छोटे बच्चे ने सवाल पूछा, 'आज बाजार में सबसे सस्ती चीज कौन सी है ?' मेरे मुँह से निकल गया, 'आदमी!"

मनुष्य का मूल्य तेजी के साथ गिरता जा रहा है और न जाने कितने दीगर मूल्य सतह पर उतराने लगे हैं। इन मूल्यों की संख्या का और उनके स्वरूपों का कोई ठिकाना नहीं, कोई अन्त नहीं। कोई कहता है, 'मनुष्य से धर्म बड़ा है।' कोई कहता है, 'मनुष्य से संस्कृति बड़ी है।' और कोई कहता है कि 'मनुष्य से भाषा बड़ी है।' इसका मतलब यह हुआ कि अगर धर्म के लिए, संस्कृति के लिए और भाषा के लिए हमें मनुष्य को छोड़ना पड़े, उससे परहेज करना पड़े, उसे दुरदुराना पड़े तो हम ऐसा करने से बाज नहीं आयेंगे।

मूर्तिभंजक और मूर्तिपूजक

हरएक अपने-अपने धर्म के पालन पर तुला हुआ है। मुसलमान मूर्तिभंजक ठहरा, उसने अपने धर्म के अनुसार भारत माता की मूर्ति के दो टुकड़े कर दिये और अब वह स्वर्ग का अधिकारी हो गया। अब मूर्तिपूजक हिन्दुओं के धर्मपालन की बारी है। हम मूर्तिपूजा में किसीसे हार मानने को तैयार नहीं। हममें से हरएक भारत माता की पूजा का अधिकारी है। इसलिए हम उसकी मूर्ति के ठीकरे-ठीकरे करेंगे और एक-एक ठीकरा अपने-अपने घरौंदे में रखकर उसकी पूजा करेंगे। क्या हमने अपने परम पूज्य और परमप्रिय राष्ट्रपिता की भस्म के साथ ऐसा ही नहीं किया ? अपनी निष्ठा और प्रीति प्रगट करने की हमारी रीति अनोखी है, लोक-विलक्षण है।

भाषानिष्ठ संस्कृति

आश्चर्य तो यह है कि राष्ट्रीय सीमाओं तक को न माननेवाले समाजवादी और साम्यवादी भी अब यहाँ तक उतर आये हैं, जितनी भाषाएँ उतनी ही संस्कृतियाँ मानने पर उतारू हो गये हैं। आज भाषाभिमानियों की कतार में सिर्फ प्रान्तवादी और क्षेत्रवादी ही नहीं वरन् अखिल जागतिक श्रमिक सत्तावादी और वसुधैव कुटुंबकं अध्यात्मवादी भी पाये जाते हैं। मुसलमान द्विराष्ट्रवाद लायें, हम क्या बहुराष्ट्रवाद और अनन्त राष्ट्रवाद लाकर ही चैन लेंगे ?

असंख्य भेद-प्रवर्तक तत्व

इस देश में मनुष्य-मनुष्य में विच्छेद करनेवाले तत्वों की कोई कमी नहीं है।

यहाँ एक भाषा बोलनेवाले भी एक नहीं होते। पंजाब में हिन्दू और मुसलमानों की एक ही भाषा थी। लेकिन फिर भी दो पंजाब हुए। जिस बंगाल ने उन्नीस सौ पाँच और छह में बंग-विच्छेद के विरुद्ध इतिहास प्रसिद्ध आंदोलन किया और यह प्रतिज्ञा की कि बंगला बोलनेवाले के हम दो टुकड़े हरगिज नहीं होने देंगे, उसी बंगाल के आज दो हिस्से हो गये हैं। ये दो हिस्से कराने में बड़े-बड़े देशभक्त बंगालियों का हाथ रहा है। नहीं-नहीं, आग्रह रहा है! नतीजा यह है कि एक ही भाषा के दो प्रान्त हैं जो एक-दूसरे के खून के प्यासे हैं। सिंध के हिन्दुओं की भाषा क्या सिन्धी नहीं थी ? उनको सिन्धी भाषा का प्रदेश छोड़कर भागना पड़ा। पंजाब के दो टुकड़े होने के बाद भी बात वहीं नहीं रुकी। अब पंजाबी और हिन्दी का झगड़ा जोर पकड़ रहा है और हरएक के लिए अलग-अलग क्षेत्र की माँग हो रही है। ये उदाहरण साबित करते हैं कि इस देश में भाषा ही अकेला भेद-प्रवर्तक तत्व नहीं है। यदि भाषाभेद की बिना पर देश को विभाजित किया जाय तो भी यह अलगपन की और विशिष्टता की भावना वहीं नहीं रुकेगी।

शतखंड भारत

उस दिन विधान परिषद् में एक जिम्मेवार सिक्ख प्रतिनिधि ने यह दावा किया कि सिक्खों की एक अलग लिपि और अलग भाषा है। धर्म के और सम्प्रदाय के साथ भाषा को जोड़ देने का ठीका सिर्फ मुसलमानों ने ही नहीं लिया है। सम्प्रदायवाद ने अखंड भारत का द्विखंड भारत किया। अब उसमें भाषावाद का एक और भेदप्रवर्तक तत्व जोड़ देने से शतखंड भारत होने का डर है।

स्वत्व की कक्षा का विस्तार

अंग्रेजी राज के जमाने में काग्रेस ने भाषावारी का सिद्धान्त मान्य किया। उस वक्त को परिस्थिति और मनोवृत्ति में तथा आज की परिस्थिति और मनोवृत्ति में जमीन आसमान का अन्तर है। विदेशी सत्ता के सार्वत्रिक आक्रमण का प्रतिकार उस जमाने की राष्ट्रभावना का प्रधान लक्षण था। स्वदेश, स्वभाषा और स्वधर्म उस राष्ट्रभावना के प्रमुख आलम्बन थे। जैसे-जैसे हमारी राष्ट्रभावना अधिक विशद और व्यापक होती गयी वैसे-वैसे 'स्व' का अर्थ भी अधिक व्यापक और संग्राहक होता गया। सांप्रदायिकता, सांस्कृतिक विशिष्टता और प्रान्तीयता की सीमाओं को पार कर अब हमारा स्वत्व कम से कम भारतव्यापी तो हो ही गया है।

विघ्नकारिणी सिद्धियाँ

पुराने शास्त्रों में कहा गया है कि साधक की परम सिद्धि में अल्प सिद्धियाँ मोहक रूप धारण करके विघ्न करने आती हैं! परमसिद्धि का सबसे घोर शत्रुत्व अल्पसिद्धियाँ करती हैं। इसलिए साधक को अल्पसिद्धियों की तरफ से सावधान किया गया है।

सांप्रदायिक स्वायत्तता, प्रांतिक परिपूर्णता आदि कई तरह की सिद्धियाँ नाना प्रकार के मनोवेधक रूप धारण करके हमारे राष्ट्र को सम्मोहित करना चाहती हैं। हमें समय रहते सचेत हो जाना चाहिए।

ये भूता विघ्नकर्तार:
ते नश्यन्तु शिवाज्ञया।

जो-जो विघ्नकारी अपशक्तियाँ हैं वे मांगल्य की प्रेरणा से नष्ट हों।

८-८-१९४९

२. भाषा के नये-नये कुरुक्षेत्र

राजभाषा का झगड़ा जैसे-तैसे निपटा। अब भाषा के कुरुक्षेत्र प्रांतों में बन रहे हैं। भाषावार प्रांत बनाने की धुन आज सभी भाषाभक्तों और प्रांतभक्तों पर सवार है। अब तक उसके नरम पड़ने के कोई लक्षण नहीं दिखाई देते। पुराने कुरुक्षेत्र पूर्व पंजाब में ही था। इसलिए भाषावाद की पहली झड़प भी वहीं हुई। पूर्व पंजाब की सरकार ने एक वक्तव्य में कहा है कि यहाँ के भाषा के सवाल का निपटारा दोनों पक्षों के लिए सम्मानयुक्त रीति से हो गया है। सरकार ने यह तो जरूर कहा है कि प्रश्न का हल दोनों के लिए सम्मानपूर्ण है, लेकिन यह नहीं कहा कि वह दोनों के लिए संतोषकारक भी है।

सम्प्रदायनिष्ठ भाषावाद

सन्तोषकारक हो या न हो, हमारी राय में वह सामंजस्यपूर्ण जरूर है। दरअसल बात ऐसी है कि पंजाब में रहनेवाले सभी संप्रदायों के लोगों की मातृभाषा पंजाबी ही है। लेकिन पंजाब धर्म-कलहों का कुरुक्षेत्र जो ठहरा! वहाँ सम्प्रदाय के साथ भाषा को बरबस जोड़ दिया गया। मुसलमानों ने उर्दू पर जोर दिया। हिन्दू भी उर्दू सीखे, लेकिन ज्यादातर सिर्फ पुरुष। औरतें आम तौर पर हिन्दी ही सीखती रहीं और पंजाबी बोलती रहीं। मुसलमानों के उर्दू के आग्रह के जवाब में हिन्दुओं ने हिन्दी और नागरी का आग्रह अंगीकार किया। नतीजा यह हुआ कि जो हिन्दू नागरी और हिन्दी का एक अक्षर भी नहीं जानते थे वे हिन्दी और नागरी के नारे कसने लगे। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्र भाषा के तौर पर हिन्दी को अपनाया था। स्वामी दयानन्द का प्रभाव दूसरे प्रांतों से पंजाब में शुरू से कुछ अधिक रहा। मुसलमानों ने उर्दू को अपनी भाषा माना, हिन्दुओं ने हिन्दी को। पंजाबी का अभिभावक कोई नहीं रहा।

पाली और गुरुमुखी

पुराने जमाने में एक ऐसा समय था जब कि संस्कृत ही शिष्ट भाषा समझी जाती थी। उसीमें साहित्य लिखा जाता था। भगवान् बुद्ध ने पहले-पहले प्राकृत भाषा में गहन तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया। बौद्धों को पाली भाषा प्यारी हुई। पंजाब में सिक्खों का गुरु ग्रंथ साहब गुरुमुखी में लिखा गया। पंजाबी भाषा से सिक्खों को विशेष अनुराग हुआ। वे पंजाबी के समर्थक और संरक्षक हुए। पाकिस्तान के निर्माण के बाद सिक्खों और हिन्दुओं में हिन्दी-पंजाबी-वाद छिड़ा और भाषा के क्षेत्र में एक नये कुरुक्षेत्र का उद्भव हुआ।

भाषिक राज्यक्षेत्र

नौबत यहाँ तक आयी कि पंजाबी और हिन्दी के दो अलग-अलग उपप्रांत बना देने की बात उठी। इस तरह का विभाजन वास्तव में हो भी गया। बहुत रगड़-झगड़ के बाद पंजाब की सरकार को एक उपाय सूझा। उसने दोनों क्षेत्रों के निवासियों के लिए दोनों भाषाओं का पढ़ना अनिवार्य कर दिया। झगड़ा टला। और हम आशा करें कि निपटा भी। लेकिन इस झगड़े में से जो एक बुनियादी सवाल पैदा होता है, वह इस देश के लिए बिलकुल जड़मूल का प्रश्न है। हमारे सभी अखिल भारतीय नेताओं ने धर्म-समन्वय की बुनियाद पुख्ता और संगीन रखने की कोशिश की। सांप्रदायिक एकता धार्मिक समन्वय का आधार मानी गयी। भिन्नता में एकता देखने का अभ्यास लोगों को कराया गया। लेकिन भिन्नता की रेखाएँ पतली और धुँधली होने के बदले कुछ मामलों में सख्त और कठोर होती गयीं। यहाँ तक कि भाषा के साथ संप्रदाय जोड़ दिया गया और हरएक संप्रदाय अपनी एक-एक भाषा की गदा लेकर मैदान में उतरा।

बुनियादी सवाल

जिस बुनियादी सवाल का जिक्र ऊपर किया है, वह इस प्रकार है। क्या संप्रदाय के साथ भाषा का अविच्छेद्य संबंध है? और यदि है तो क्या संप्रदाय के साथ भाषा भी बदलती जायगी ? जब मुसलमान यह कहता है कि मुसलमान की भाषा उर्दू है तो कल अगर कोई मलयाळी, मुसलमान बन जाय तो उसकी भाषा भी एक क्षण में बदल जायेगी ? और उर्दू के लिए वह मलयाळियों से टंटा करने के लिए कमर कस लेगा ? जब सिक्ख यह कहता है कि उसकी भाषा पंजाबी है और उसकी लिपि गुरुमुखी है तो उसका मतलब भी ठीक ऐसा ही होता है। अगर कोई कुर्गी या कोंकणी कल सिक्ख बन जाय तो एक पल में उसे कोंकणी बोलने के खिलाफ गुरुमुखी और पंजाबी के लिए हथियार उठाने को तैयार हो जाना पड़ेगा। जिस भाषा में किसी संप्रदाय के धर्मग्रंथ लिखे गये हों वही उस संप्रदाय की भाषा नहीं होती। बाइबल हिब्रू में लिखी गयी, लेकिन संसार में इसाइयों की भाषा हिब्रू नहीं है। उलटे हिब्रू-भाषियों का निरंतर उत्पीड़न करने

में इसाइयों ने अपना बड़ा गौरव समझा। बौद्धों की भाषा पाली नहीं है। मुसलमानों की भाषा अरबी नहीं है। पारसियों की भाषा जरतुश्ती नहीं है और न हिंदुओं की भाषा वैदिक संस्कृत है। लेकिन हमारे यहाँ आयेदिन भाषा का संबंध संप्रदाय के साथ जोड़ दिया जाता है और जगह-जगह भाषा के पानीपत-सोनपत खड़े हो जाते हैं। भाषावाद के लिए यह प्रश्न जीने-मरने का है। इसलिए उसे हमने बुनियादी सवाल कहा। इस देश की हवा-पानी ही कुछ ऐसी है कि यहाँ पर हरएक मामला संप्रदाय का भेष लेकर ऊधम मचाने लगता है। यहाँ का हर प्रश्न, हर समस्या, हरएक शिकायत अंत में जाकर सांप्रदायिक और जातीय बन जाती है। यह हमारे देश की मूलभूत बीमारी है।

संमिश्र राष्ट्रीयता का नुस्खा

पंजाब में जिस समस्या का जो उपाय किया गया वह अपनी जगह उपयुक्त और माकूल है। आजकल की राजनैतिक परिभाषा में उसे लेंगे तो राष्ट्रीयता का नुस्खा कह सकते हैं। काम्पोजिट् नॅशनॅलिटी का यह प्रयोग स्विट्जरलैंड ने काफी सफलतापूर्वक किया है। उसीका अनुसरण पंजाब में किया गया है। दम तो हम यह भरते थे कि आन्तर-सामुदायिक और आन्तर-सांप्रदायिक सहजीवन में पश्चिम के देशों को कुछ सबक सिखायेंगे, लेकिन आज तो हमारी भूमिका उन्हीं देशों के चरणों में बैठकर पाठ सीखने की है। गनीमत इतनी ही है कि जिस सांप्रदायिकता की बदौलत एक पंजाब के दो पंजाब हुए, वहाँ और, पूरब पंजाब के हिन्दी-पंजाब और पंजाबी-पंजाब, ऐसे दो टीकरे नहीं हुए। संसार की पाँच नितांत प्रभावशाली व जीवनदायी लोकमाताओं का पुण्य जल भी पंजाब के पंचजनों को एकप्राण और एकरस नहीं बना सका। अब आशा करें कि पंजाबी और हिन्दी की सरस्वती और दृषद्वती का पुण्यसंगम पंजाब को अखंड एकरस बनाने में कृतकार्य होगा।

८-१०-१९४९

३. संमिश्र प्रान्त में भाषिक सहयोग

राष्ट्रभाषा का दायित्व और कर्तव्य

उस दिन मध्यप्रदेश की विधान सभा में अंग्रेजी की जगह हिन्दी और मराठी का प्रचलन उस राज्य के शासन में करने का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उस वक्त राज्यभाषा, राष्ट्रभाषा और प्रांतभाषाओं की मानमर्यादा तथा अधिकार के विषय में काफी उद्बोधक चर्चा हुई। मध्यप्रदेश संमिश्र प्रान्त है। भाषावार प्रान्तरचना की इष्टानिष्टता का प्रश्न थोड़ी देर के लिए किनारे रख कर भिन्न भाषा-भाषियों के सहजीवन की दृष्टि से विचार किया

जाय, तो मध्य प्रदेश की यह स्थिति वांछनीय समझी जा सकती है। इस प्रकार यदृच्छा से या योजनापूर्वक जिन प्रान्तों में भिन्न-भाषी लोग एक ही राज्य में समाविष्ट हो गये हैं, उन्हें हिलमिल कर और सद्भाव से एक-दूसरे के साथ रहना चाहिए और सदा "परस्परं भावयन्तः" की नीति का अनुसरण करना चाहिए। मध्यप्रदेश में जो प्रमुख दो भाषाएँ हैं, उनमें से एक अखिल भारत की राज्यभाषा के सिंहासन पर आसीन है। मध्यप्रदेश में भी उसे सत्ताबल के साथ-साथ संख्याबल भी प्राप्त है, इसलिए उसके गौरव और अधिकार के साथ-साथ उसका दायित्व और कर्तव्य भी दूसरी भाषाओं की अपेक्षा बड़ा है। जो सबसे अधिक गौरवान्वित है, उसे सबसे अधिक नम्र भी होना चाहिए, तभी उसका गौरव दूसरों को महिमान्वित करके सबकी सामुदायिक प्रतिष्ठा और संयुक्त शक्ति का विकास कर सकता है।

हिन्दी को सेविका और परिचारिका बनाना है

परन्तु मध्यप्रदेश में हिन्दी-भाषा-भाषी अधिक संख्या में हैं, इस परिस्थिति से मराठी-भाषा-भाषियों के चित्त कुछ चिन्तातुर और शंकाकुल होते दिखाई देते हैं। इसका मूल भाषा-विषयक संघर्षों के आज तक के अनुभव में है। जब ईसा के शिष्यों में यह विवाद हुआ कि सबसे बड़ा कौन है, तो ईसा ने यह व्यवस्था दी कि जो सबका सेवक है, वही सबसे श्रेष्ठ है।" रामकृष्ण परमहंस देव के दो शिष्यों में भी एक बार इसी बात को लेकर टंटा हो गया। दोनों अपनी-अपनी शिकायत लेकर रामकृष्ण देव के पास पहुँचे। रामकृष्ण परमहंस ने निर्णय दिया, "तुममें से जो दूसरे को बड़ा समझता है, वही बड़ा है।" बस, झगड़े का रूप ही बदल गया। स्नेह की प्रतियोगिता में उसका रूपांतर हो गया। गोखले ने जब भारत-सेवक-समाज की स्थापना की तो सवाल यह हुआ कि अध्यक्ष किसे बनाया जाय? समाज के सभी सदस्य समान भूमिका पर हैं। फिर भला कोई अध्यक्ष कैसे हो सकता था? इसलिए यह तय पाया गया कि कोई अध्यक्ष नहीं होगा। एक 'प्रायमस इण्टर पारे' बराबरीवाले में पहला-सदस्य रहेगा। परन्तु सिर्फ नाम बदल देने से काम नहीं होता। प्रथम सदस्य की जगह के लिए भी उम्मीदवारी और प्रतिस्पर्द्धा होने लगती है। परिचारिकाओं में और सेविकाओं में भी प्रधान सेविका और साधारण सेविकाएँ होती हैं। असल में प्रधान सेविका वह होनी चाहिए, जो अधिक-से-अधिक सेवा करती है और कम-से-कम प्रतिदान लेती है। लेकिन अक्सर होता ऐसा है कि सबसे बड़ी सेविका या परिचारिका अन्य सेविकाओं की मालकिन बन जाती है। वह सेविका नामक रानी होती है। सेवा के आवरण में उसकी प्रमुत्वभावना अपना जाल बिछाने लगती है। यदि ऐसा न होता, तो सेवा और शुश्रूषा के प्रथम स्थान के लिए उम्मीदवारी और प्रतिद्वन्द्विता नहीं होती। इसलिए आवश्यक यह है कि राज्यभाषा और राष्ट्रभाषा की द्विविध महिमा से विभूषित हिन्दी हमारे सांस्कृतिक क्षेत्र की प्रथम सेविका और प्रधान परिचारिका बने।

बहुराष्ट्रवाद का कालकूट

हिन्दी भाषा-भाषियों ने दूसरी भाषाओं को अभयदान दिया है और उत्कर्ष का आश्वासन भी दिया है। परन्तु यह पर्याप्त नहीं है। उसे अन्य भाषाओं के विकास में सक्रिय योग-दान भी करना पड़ेगा। अन्यथा दूसरी भाषा बोलनेवालों में भाषिक चेतना जाग उठेगी, जो शीघ्र ही भाषिक प्रतिरोध और सांस्कृतिक विद्रोह की भावना में परिणत हो सकती है। इस प्रकार की भाषिक संवेदना यदि प्रान्तीय भाषाओं में जागृत हुई, तो इस देश में बहुराष्ट्रवाद का कालकूट पैदा होने का अन्देशा है।

प्रादेशिक भाषाओं का हविर्भाग

जो प्रान्त द्विभाषी या बहुभाषी हैं, उनमें जिस भाषा को संख्याबल तथा सत्ताबल प्राप्त है, उसे दूसरी भाषाओं को स्वायत्त जीवन का आश्वासन देना होगा और उस आश्वासन के कुछ चिह्न व्यवहार में भी उपस्थित करने होंगे। मध्यप्रदेश में हरएक मराठी-भाषी भारत की राजभाषा हिन्दी का अध्ययन तो अनिवार्य रूप से करेगा ही, परन्तु उस प्रान्त में मराठी और हिन्दी का रुतबा बराबरी का तभी होगा, जब कि हर हिन्दीभाषी के लिए मराठी सीखना अनिवार्य कर दिया जायगा। इस प्रकार भाषिक सद्भाव और सहयोग का वातावरण पैदा होगा, दोनों प्रादेशिक भाषाओं का समान आदर और अधिकार होगा। अन्य प्रादेशिक भाषाएँ अपने-अपने हविर्भाग और नैवेद्य से राज्यभाषा का भण्डार समृद्ध करेंगी। राज्यभाषा प्रादेशिक भाषाओं को प्राणवान् और प्रगतिशील बनायेगी। भाषिक प्रभुत्व की भावना के बीज अगर कहीं छिपे होंगे तो हमारी सांस्कृतिक भूमि में भाषिक संघर्ष का कुरुक्षेत्र खड़ा होगा। सत्ताधिष्ठित भाषा में प्रादेशिक भाषाओं को जीवन और पोषण देने की वृत्ति होगी तो प्रादेशिक भाषाओं में आत्मसमर्पण की प्रेरणा जागृत होगी। प्रादेशिक निष्ठा की अपेक्षा राष्ट्रनिष्ठा अधिक बलवान् होगी और हरएक द्विभाषी प्रान्त भाषिक सहजीवन और भाषिक सहयोग का पवित्र तीर्थक्षेत्र बनेगा। हरएक प्रादेशिक और प्रान्तीय भाषा अपना सर्वस्व राष्ट्रभाषा और राज्यभाषा की वेदी पर न्योछावर करने के लिए तत्पर रहेगी।

मंगल-वृति के दर्शन

मध्यप्रदेश की धारासभा में जो चर्चा हुई और शासन के तथा सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों ने जो भाषण किये, उनमें इस प्रकार की मंगलमय वृत्ति के प्रसादचिह्न प्रचुर मात्रा में दिखाई दिये। उन सबका अभिनंदन है।

२७-१०-१९५०

४. भाषा के क्षेत्र में स्पर्श-भावना

संसार में दो प्रवृत्तियाँ परस्पर-विरोधी दिशाओं में काम करती आयी हैं : एक प्रवृत्ति वह है जो मनुष्यों को एक-दूसरे से मिलाना चाहती है और सारी मानवता को जो विशाल विश्वकुटुम्ब के रूप में परिणत हुए देखना चाहती है। दूसरी प्रवृत्ति वह है जो मनुष्यों में किसी-न-किसी बहाने सम्प्रदायों और फिरकों का निर्माण कर दुई और संघर्ष बनाये रखना चाहती है और मनुष्यों को एक-दूसरों से अलग रखने के लिए छोटे-बड़े गिरोह बनाने में ही सार्थकता अनुभव करती है। गांधीजी की या यों कहिये कि विनोबा की, परिभाषा में इन दो प्रवृत्तियों को हम 'स्पर्श-भावना' और अस्पर्श-भावना' कह सकते हैं। अहिंसा और भाईचारे के विकास का साधन स्पर्श-भावना' है। इसीलिए गांधीजी के एकादश जीवनव्रतों में उसका समावेश किया गया है। यह स्पर्श-भावना हमारे सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यक्त होनी चाहिए। लेकिन दुर्भाग्यवश सभ्यता और राष्ट्रीयता के नाम पर अस्पर्श-भावना को ही प्रबल बनाने में वर्तमान संसार अपने-आप को धन्य मानता है। हिटलर का यहूदी-द्रोह इसी अस्पर्श-भावना का मूर्त स्वरूप है। रक्तशुद्धि और वंशशुद्धि के नारों के पीछे यही भावना काम कर रही है। अपने पड़ोसी राष्ट्र या जाति का खून नापाक अथवा अस्वच्छ मानना, क्या कभी बन्धुत्व का पोषक हो सकता है ?

मगर अफसोस तो यह है कि यही अस्पर्श-भावना भाषा और साहित्य के क्षेत्र पर भी अनिरुद्ध आक्रमण कर रही है।

आधुनिक वैज्ञानिक मूढ़ग्राह

आजकल के वैज्ञानिक मूढ़ग्राहों में रक्त-शुद्धि और भाषा-शुद्धि बड़े जबरदस्त हैं। ये दोनों बिलकुल समान या समान धारातल पर नहीं हैं। लेकिन फिर भी उनमें एक तरह का कौटुम्बिक साधर्म्य है। यह धारणा कि दूसरी भाषा के शब्दों का सम्पर्क होते ही हमारी भाषा अशुद्ध या भ्रष्ट हो जाती है, संकीर्णता और असहिष्णुता की द्योतक है। जातीय तथा वर्णविषयक छुई-मुई की भावना को तिलाञ्जलि देकर संसार को आइन्दा स्पर्श-भावना का विकास करना है। यही स्पर्श-भावना हमारे वाङ्मयीन और साहित्यिक क्षेत्र में बन्धुत्व के विकास की अग्रदूती होगी।

दूसरी भाषाओं के शब्द बरबस अपनी भाषा में मिला देना अलग बात है। यह बिलकुल गलत है; क्योंकि अस्वाभाविक और कृत्रिम है। ऐसी बनावटी भाषा का हमारे जीवन के साथ कोई मेल नहीं रहेगा। लेकिन भिन्न-भिन्न भाषा-भाषियों के पारस्परिक सम्बन्ध से जो सहजीवन विकसित होता है, उसके साथ-साथ उन भाषाओं के शब्द, प्रयोग और मुहावरे भी एक-दूसरे के साथ घुलमिल जाते हैं। यह भाषा की समृद्धि का ही लक्षण है। इस दृष्टि से भाषा के क्षेत्र में परहेजगारी प्रतिगामी और अभद्र है।

'हिन्दी' बनाम 'हिन्दुस्तानी'

आजकल हिन्दी और हिन्दुस्तानी के पक्षपातियों में जो व्यर्थ विवाद छिड़ गया है, उसकी जड़ में भी यही भावना है। भाषाशुद्धि के नाम पर महाराष्ट्र में और अन्यत्र भी लोग 'तारीख' की जगह 'दिनांक' शब्द चलाना चाहते हैं, 'उम्मीदवार' की जगह 'इच्छुक' शब्द जबरदस्ती प्रचलित करना चाहते हैं। यह नीति भाषाशुद्धि की भले ही हो, लेकिन सत्वशुद्धि या जीवनसमृद्धि की नहीं है।

भाषाओं की पारिवारिक एकता

उस दिन एक बड़ी मजेदार घटना हुई। भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके संस्कृत की अति प्राचीनता सिद्ध करने का प्रयास एक संस्कृतिवादी पण्डितप्रवर कर रहे थे। हमेशा के 'पितृ', 'पैट्री', 'पिदर', 'फादर', 'मातृ', 'मैट्री', 'मादर' वगैरा शब्दों के उदाहरण से उन्होंने यह साबित करने की चेष्टा की कि संसार की सभी भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं। उनका यह दावा था कि हमारी संस्कृत भाषा संसार की अन्य भाषाओं की जननी नहीं, तो बड़ी बहन, जरूर है। उनसे बड़े अदब के साथ पूछा गया, "तो क्या फिर भाषाशुद्धि का आन्दोलन बिलकुल ही निरर्थक नहीं साबित होता ? अगर सभी भाषाएँ संस्कृत की पुत्रियाँ या सहोदराएँ हैं, तो कोई भी भाषा परायी नहीं है। तब दूसरी भाषा के साथ मिश्रण से कोई भाषा अशुद्ध या भ्रष्ट कैसे हो सकती है ?" सारांश यह कि अगर उपर्युक्त दावा सही हो, तो भाषा-शुद्धि का आन्दोलन बेमानी हो जाता है और फिर उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता।

भाषा के व्यक्तित्व का विकास

हरएक भाषा का अपना एक व्यक्तिव होता है। इसी विशेषता को उस भाषा की मूल प्रकृति कहते हैं। उसका संरक्षण और विकास अलबत्ता होना ही चाहिए। इसका दिग्दर्शन श्री राजेन्द्रबाबू ने नवम्बर के 'सर्वोदय' में किया है। यहाँ इतना ही निवेदन करना है कि व्यक्तित्व का संरक्षण और संवर्धन भी समष्टि के साथ सारूप्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से ही होना चाहिए। विश्वबन्धुत्व, आन्तर्राष्ट्रीयता और आन्तर्-प्रान्तीयता की भावनाएँ हमारे जीवन में ज्यों-ज्यों चरितार्थ होती जायँगी, त्यों-त्यों भाषाशुद्धि का आग्रह अपने-आप शिथिल होता जायगा। परन्तु यदि भाषा के क्षेत्र में भी स्पर्श-भावना का विकास विचारपूर्वक और सद्भावना से किया जाय, तो मानव-कुटुम्ब का आदर्श कार्यरूप में परिणत करने में अनमोल सहायता मिलेगी। मगर ताज्जुब तो यह है कि गांधीजी को प्रतिगामी, जीर्णमतवादी, दकियानूस कहनेवाले भी साहित्यिक मंच पर से भाषा-शुद्धि का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते पाये जाते हैं।

२७-११-१९४१

६

संस्कृति

१. सर्वनाशी शराब
२. सामाजिक स्वतंत्रता के विरोधक
३. पदवियाँ : अवाञ्छनीय उपक्रम
४. भेद-निर्देशक उपपद
५. शुद्ध भोजन का नया अर्थ
६. क्रीडांगण का सांस्कृतिक महत्त्व
७. मानवीय पुरुषार्थ को प्रणाम

१. सर्वनाशी शराब

तिलक-युग की प्रेरणा

गांधीजी की प्रेरणा से कांग्रेस ने शुरू से शराब-बंदी की नीति को अपनाया है। इस देश में शराब-बंदी का आन्दोलन बहुत पुराना है। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने उसे अपने विधायक और प्रतिकारात्मक कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग बनाया, परन्तु इस आन्दोलन का उपक्रम बहुत पहले हुआ। १९०५ के लगभग बंग-विच्छेद के विरोध में जो देश-व्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन हुआ, उसमें और गांधीजी के असहयोग आंदोलन में बहुत-कुछ बाह्य समानता रही। उस आंदोलन में लाल-बाल-पाल की त्रिमूर्ति सारे देश में प्रसिद्ध हुई। इस त्रिमूर्ति में से भी अखिल भारत के राष्ट्र-नेता लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ही माने गये। लोकमान्य तिलक ने शराब-बंदी को अपने आंदोलन का एक मुख्य अंग बनाया। लोकमान्य तिलक से पहले भी बंबई और महाराष्ट्र में जिस प्रकार स्वदेशी और राष्ट्रीय शिक्षण की नींव डाली जा चुकी थी, उसी प्रकार नशा-बंदी के आंदोलन का आरम्भ भी हो चुका था। मित-पान या मर्यादित मात्रा में शराब पीने का आंदोलन तो और भी पहले से बहुत सौम्य रूप में चल रहा था। यह आंदोलन पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित था, और उसका उद्देश्य शराब का सर्वथा निषेध नहीं था, बल्कि शराब-खोरी और पियक्कड़-पन का निषेध था। लोकमान्य तिलक ने तथा उनसे पहले श्री शंकर गणेश लवाटे आदि उनके सहयोगियों ने शराब-बंदी के आंदोलन का सूत्रपात किया। आज जिसे हम 'पिकेटिंग' कहते हैं, उसका भी प्रयोग उस आन्दोलन में किया गया। वह आंदोलन जितना नैतिक था, उतना ही राजनैतिक भी था, क्योंकि उस समय के नि:शस्त्र प्रतिकार का वह भी एक जबरदस्त अंग बन गया। महाराष्ट्र की यह एक विशेषता ही रही कि अंग्रेजों के आने के बाद वहाँ जो-जो धार्मिक और नैतिक प्रवृत्तियाँ शुरू हुईं, उन सबका राजनीति के साथ घनिष्ठ अनुबंध अवश्य रहा, इसलिए विदेशी शक्कर के बहिष्कार और शराब-बंदी के आंदोलन में भी महाराष्ट्र ने कुछ अधिक उग्र और प्रबल रूप धारण किया। शराब-बंदी के विषय में उस जमाने में लोकमान्य के 'केसरी' में जो लेख निकले, उनसे आज भी स्फूर्ति मिलती है। सारांश यह कि हमारे देश में शराब-बंदी का आंदोलन नया नहीं है और न वह गांधीजी के आत्यंतिक पावित्र्य-वाद का एक उपांग ही है। बहुत पहले से वह हमारे राजनैतिक और राष्ट्रीय-गुण-विकास के कार्यक्रम का एक अनिवार्य अंग रहा है।

नैतिक पहलू

स्वदेशी-आंदोलन की सुप्रसिद्ध त्रिमूर्ति में से लाला लाजपतराय सुधारवादी और प्रगतिनिष्ठ माने जाते थे। वे बहुत दिन अमेरिका में भी रहे। उनकी सहायता से अमेरिकन

धर्मोपदेशक श्री जे० टी० सण्डरलैण्ड ने जो 'इण्डिया इन् बांडेज' नाम की पुस्तक लिखी, उसमें शराब-बंदी की उपयुक्तता का सांगोपांग विवेचन किया है। लाला लाजपतराय की 'अन्हैपी इण्डिया' में भी इस विषय का ऐतिहासिक और तर्कशुद्ध प्रतिपादन किया गया है। यह आंदोलन केवल प्रतिकारात्मक ही नहीं था, इसमें लोकचारित्र्य के विकास की भी दृष्टि सदा रही। आज, जब कि उसका प्रतिकारात्मक पहलू समाप्त हो चुका है, लोगों को और सरकार को उसके नैतिक पहलू का ही विचार करना चाहिए।

दूसरे देशों की मिसाल अप्रस्तुत है

इस संबंध में अमेरिका का दृष्टांत अप्रस्तुत है। अमेरिका में शराब-बंदी का प्रयोग असफल हुआ, इसलिए यह जरूरी नहीं है कि इस देश में भी वह असफल होगा। अमेरिका की परंपरा, लोकप्रवृत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठाओं में और यहाँ के सार्वजनिक संकेतों, सामाजिक प्रतिष्ठाओं और ऐतिहासिक परंपराओं में बहुत बड़ा भेद है। अमेरिका में शराब-खोरी का निषेध रहा, परंतु शराब ही सर्वथा निषिद्ध नहीं मानी गयी। इसके विपरीत भारतवर्ष में शराब कभी भी प्रतिष्ठित नहीं मानी गयी। जिन धार्मिक विधियों में मद्य का उपयोग किया जाता है, वे विधियाँ भी वाम-मार्गीय और नितांत निकृष्ट समझी गयीं। हिन्दू धर्म में कुछ तमोगुण प्रधान देव-देवियाँ हैं और भूत-प्रेत-पिशाचों की उपासनाएँ भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं। इन उपासनाओं के विषय में भगवद् गीता में प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये, यजन्ते तामसा जनाः' इन शब्दों में स्पष्ट निषेध ध्वनित किया गया है। समुद्र-मंथन के परिणाम-स्वरूप जो चौदह रत्न निष्पन्न हुए, उनमें मद्य के साथ-साथ विष का भी समावेश है, परन्तु न विष की प्रशंसा है और न वारुणी की, बल्कि वारुणी को दैत्यों का पेय बना कर उसकी अप्रत्यक्ष निन्दा ही की गयी है। प्रसंगवश जिस प्रकार हलाहल भी प्राण-रक्षण का साधन बन जाता है, उसी प्रकार कभी-कभी मदिरा भी जीवन-दान का साधन, विशेष अवस्था में बन सकती है। इससे अधिक उसकी उपादेयता इस देश के साहित्य, संस्कार या जीवन-प्रणाली में कभी स्वीकार नहीं की गयी है।

इस देश की परम्परानुसारी जीवन-प्रणाली में तो आज भी मांस-सेवन तक प्रशस्त नहीं माना गया है। हिन्दुओं में तीन-चौथाई लोग आमिषभोजी हैं, परंतु उनमें भी निरामिष आहार की प्रतिष्ठा अधिक है। जो लोग निरामिष आहार का व्रत ले लेते हैं, उनका विशेष आदर होता है। परंतु जिसका यह मतलब नहीं है कि मद्य और मांस एक ही श्रेणी के समझे गये हैं। मांसाहार की अनुज्ञा है, उसका सार्वत्रिक निषेध नहीं है,परंतु मद्य के विषय में तो अनुज्ञा भी नहीं है। हिन्दुओं के लिए जिस प्रकार गो-मांस का निषेध है, उसी प्रकार मद्य का भी निषेध है।

मादक पदार्थों के सेवन का निषेध केवल हिन्दू धर्म तक ही सीमित नहीं है, और न केवल भारतवर्ष तक ही सीमित है। देश, काल, वर्तमान के अनुसार उस निषेध की मात्रा में अन्तर अवश्य है। यदि ऐसा न होता तो शराब-खोरी के लिए सभी देशों के

साहित्य और शिष्टाचार में निंदा और उपहास के संकेत न पाये जाते। तमाकू के बारे में जिस प्रकार भिन्न-भिन्न समाजों के शिष्टाचारों में थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है, उसी प्रकार का शराब के विषय में भी पाया जाता है। पाश्चात्य देशों में और कुछ असंस्कृत जातियों में बाप-बेटे साथ बैठ कर चिलम या सिगरेट भले ही पीते हों, लेकिन सभी सभ्य देशों में छोटी उम्र के बालकों को तमाकू पीने से रोकने की कोशिश होती है। कुछ देशों में मांस की तरह मद्य भी नित्य आहार का एक अंग बन गया है। इसलिए बालक भी परिमित मात्रा में मद्य का सेवन करते हैं, तथापि मादकता और नशाबाजी का उन देशों में भी घोर निषेध किया गया। स्पष्ट है कि उन देशों की प्रथाओं को इस देश के लिए आदर्श रूप मानना गलत होगा।

शराबबंदी का नैतिक पहलू

इन्हीं सब बातों का विचार करके कांग्रेस ने शराब-बंदी की नीति का निरपेक्ष स्वीकार कर लिया और उसे कार्यान्वित करने का संकल्प भी घोषित कर दिया। इसी संकल्प के अनुसार कांग्रेस की सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्रों में यथासंभव उस नीति का अनुसरण आरम्भ कर दिया है। उस नीति की सफलता का विचार करने में मुख्य कसौटी आर्थिक नहीं, नैतिक है। चोरी से कितनी शराब बनती है और बिकती है, यह भी उसकी कसौटी नहीं है। पुराने पियक्कड़ कानून की आँख बचा कर शराब पीते हैं और अपनी जमात बढ़ाने की कोशिश भी करते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं है कि शराबखोरी और शराब पीनेवालों की संख्या बढ़ रही है, बल्कि जब से शराब-बंदी का कानून बना है, तब से शराबखोरी के विरुद्ध एक वायुमंडल बन रहा है और वह वायुमंडल स्थिर हो रहा है। केवल कानून और सजा से गैरकानूनी शराब बनना और बिकना बंद नहीं हो सकता। इसके लिए जनता के सक्रिय सहयोग की आवश्यकता है। केवल गैरकानूनी शराब की भट्ठियाँ खोजने से काम नहीं बनेगा। इसका इतना बड़ा महत्त्व भी नहीं है। जो लोग शराब पीते और बनाते हैं, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होनी चाहिए। गृहस्थ-जीवन बितानेवाले सभ्य और उद्यमशील नागरिक अपना उद्योग-धंधा और गृहस्थी सँभालेंगे या शराबियों और जुआड़ियों के अड्डे खोजते फिरेंगे ? कम से कम प्रस्तुत लेखक को ऐसी जन-सेवा में कोई रुचि नहीं है। शराब के विरुद्ध वातावरण का निर्माण करना संस्कारवान् और सभ्य नागरिकों का कर्त्तव्य है। इस देश के समाज-सेवकों ने और कांग्रेस ने पिछले पचास वर्षों में इस दिशा में अविरत प्रयत्न किया है और इसीलिए शराब-बंदी की नीति का अंगीकार कांग्रेस की सरकारें कर सकीं।

काल-पुरुष को बहलाने की तरकीब

अक्सर दो श्रेणियों में शराब का प्रचलन अधिक है। एक तो उन लोगों में, जो

अति साधन-संपन्न हैं और एक उन लोगों में, जो नितान्त साधन-हीन हैं। अति साधन-संपन्न लोगों के पास अवकाश ही अवकाश है। उनके लिए समस्या यह है कि समय के साथ क्या किया जाय-फुरसत उनके दिमाग को चंचल कर देती है, खालीपन से वे उकता जाते हैं, इसलिए काल-पुरुष को बहलाने की कोई-न-कोई तरकीब वे खोजते हैं। अपनी रिक्तता को और अपने-आप को भूल जाना, समय को धोखा देने की एक आसान हिकमत है। नशे में मस्त हो जाने पर मनुष्य अपनी और दुनिया की सुध भूल जाता है।

वास्तविकता को भूलने का जरिया

जो दिनभर मेहनत-मशक्कत करके चूर-चूर हो जाते हैं और घर आने पर आराम और सुख का कोई सामान नहीं पाते, वे भी जिन्दगी से रूठ जाते हैं। वे अपनी झुँझलाहट और खीझ दुनियाभर पर निकालना चाहते हैं, किसीसे सीधे मुँह बात करने की तबीयत नहीं होती। दिल खट्टा तो हो जाता है, इसलिए वे वास्तविकता को भूल जाना चाहते हैं। उनके लिए जीवन एक विभीषिका है, जिससे बचने का उन्माद के सिवा कोई दूसरा सुलभ उपाय उन्हें दिखाई नहीं देता इसलिए वे शराब पीकर उन्मत्त हो जाते हैं और अपनी वेदनाओं को भूल जाते हैं। उनके लिए जिन्दगी कड़ी सजा है। कैदी जेल में जितनी देर सो लेता है, समझता है कि चलो, इतनी सजा कट गयी।

बेहोशी की दवा

जो लोग यह कहते हैं कि मजदूरों को मनोनाश से बचाने के लिए शराब की आवश्यकता है, वह उन्हें कृत्रिम और नकली नींद या बेहोशी के जीवन का सुख देना चाहते हैं। यह सुख अज्ञानमय होता है। मनुष्य को न तो उसकी संवेदना होती है, और न कोई भाव-रूप अनुभूति। प्राकृतिक नींद में श्रम-परिहार की जो शक्ति होती है, वह भी इस मूर्च्छा में नहीं होती। मार्क्स-मत के अनुसार धर्म वह अफीम की गोली है, जो जनता को विस्मरण के और बेहोशी के अन्धकूप में ढकेल देती है। जो लोग मजदूरों के लिए शराब को उपयोगी बताते हैं, वे धर्मध्वजियों से भी कहीं अधिक घोर अनर्थ करते हैं। श्रमजीवियों का जीवन सुसह्य बनाने का वास्तविक उपाय उनका दु:ख-निवारण है, न कि दु:ख-विस्मरण का आयोजन! दु:ख-विस्मरण के सारे आयोजन धोखाधड़ी के आयोजन हैं, उनमें अनर्थकारी प्रतारणा है।

गैरकानूनी होने का तर्क

एक और विचित्र बात कही जाती है। वह यह कि शराब-बंदी के कारण गैरकानूनी शराब बढ़ गयी। जब मैंने यह बात सुनी तो मुझे चोर-बाजार का उदाहरण याद आया। नियन्त्रणों से पहले चोर बाजार कहीं नहीं था, क्योंकि नफाखोरी जायज थी, सारा बाजार साहू था। नियन्त्रणों के आते ही नफाखोरी और अनियन्त्रित व्यापार चोर बाजार में

परिणत हो गया। नियंत्रण के कारण चोर बाजार की अभिवृद्धि नहीं हुई, आविर्भाव हुआ— चोर बाजार बढ़ा नहीं, पैदा हुआ। इसका यह इलाज नहीं है कि सारे नियन्त्रण ही उठा लिये जायँ। 'शारदा-कानून' के पहले बाल-विवाह वैध और शिष्ट-मान्य थे। शारदा-कानून के बाद वे सब अवैध या गैरकानूनी हो गये। तो क्या हम यह कहेंगे कि शारदा कानून के कारण बाल-विवाह बढ़ गये ? अस्पृश्यता-निवारण-कानून के पहले सारी अस्पृश्यता विधिसम्मत थी, परन्तु आज सारी अस्पृश्यता गैरकानूनी है, और गुनाह है। क्या हम कहेंगे कि अस्पृश्यता-विरोधी कानून ने अस्पृश्यता बढ़ा दी ? शराब-बंदी से पहले सरकारी और गैर-सरकारी शराब थी, अब सभी शराब गैर-सरकारी हो गयी। इससे अधिक कोई स्थित्यन्तर नहीं हुआ।

सांस्कृतिक उन्नति की योजनाओं का मूल्य रुपये-पैसे में नहीं आँका जाता। उनकी स्वर्ण-तुला नहीं हो सकती। जब सम्पत्तिवाद सांस्कृतिक मूल्यों के विषय में बाधक होता है, तब अर्थ-नीति अनर्थकारक सिद्ध होती है। ऐसी अवस्था में आध्यात्मिक भूमिका पर से नहीं, बल्कि समाज-स्वास्थ्य की भूमिका पर से हमें निम्न कवि-वचन की सत्यता को स्वीकारना होगा :

'अर्थमनर्थम् भावय नित्यम्'
(ऐसे अर्थ को हमेशा अनर्थ समझ।)

स्वैराचार व्यक्ति-स्वातंत्र्य नहीं है

यह कहा जाता है कि शराब-बन्दी में व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर आक्रमण है। व्यक्ति स्वातंत्र्य बड़ा आकर्षक शब्द है, परन्तु उसे मर्यादित करने में ही मनुष्य अपनी सारी बुद्धिमत्ता और पुरुषार्थ का विनियोग करता है। संसार में हम मनुष्य की जीवनाकांक्षा बढ़ाना चाहते हैं; न कि उद्वेग और निराशा। जीवन से छुटकारा मनुष्य तभी पाना चाहता है, जब यह जीवन उसके लिए भारस्वरूप हो जाता है और यह संसार चिरंतन कारागृह में परिणत हो जाता है। आदमी जब अपने-आप से या दूसरों से बहुत नाराज हो जाता है तो उस क्रोध के आवेश में जहर भी खा लेता है, परन्तु इसलिए समाज उसके जहर खाने के अधिकार को मंजूर नहीं करता, बल्कि उन परिस्थितियों का निराकरण करने की कोशिश करता है, जिनके कारण वह जिन्दगी से ऊबता है। उसी प्रकार मनुष्य शारीरिक तथा मानसिक पीड़ा से तंग आकर ही अपने होश गायब कर देना चाहता है, अर्थात् उतने समय के लिए जीवन की चेतना को ही नष्ट कर देना चाहता है, इसीलिए इस विषय में उसे अनियंत्रित स्वैराचार का अधिकार नहीं दिया जा सकता। हमें जीवन के उत्कर्ष की योजना करनी है, न कि प्राण-विसर्जन की सुविधाओं की!

१०-३-१९५१

२. सामाजिक स्वतंत्रता के विरोधक

भूषणास्पद असफलता

भारतीय संसद के वर्तमान अधिवेशन हिन्दू कोड-बिल का नियोजित अंश भी पास नहीं हो सका। सदस्यों की प्रगति-विरोधी मनोवृत्ति के सामने डॉ० आंबेडकर असफल हुए और वे सेवा-निवृत्त हो गये। डॉ० आम्बेडकर भारतीय गणराज्य के संविधान के प्रमुख निर्माता हैं। यदि वे सामाजिक स्वतंत्रता के विधान के प्रणेता भी बन सकते, तो उनका यश और भी चिरस्थायी होता। भारत के संविधान का प्रमुख निर्माता जिस प्रकार एक लोकोत्तर हरिजन हुआ, उसी प्रकार भारतीय सामाजिक संविधान का जनक भी यदि वही होता तो अधिक उपयुक्त होता, भारत की हिन्दू जनता की विवेकशीलता का डंका दुनियाभर में बजता। परन्तु संकीर्ण परम्परावाद और असाध्य जीर्ण मतवाद के मुकाबले में जवाहरलालजी और डॉ० आंबेडकर की सामर्थ्य नहीं ठहर सकी। उनको असफलता मिली, लेकिन विरोधियों की सफलता की अपेक्षा यह असफलता कहीं अधिक भूषणास्पद है।

हिन्दूकोड का बुनियादी सिद्धान्त

हमने अपने गणतन्त्र के संविधान में हरएक नागरिक को राजनैतिक समान अधिकार दिया है। सबके एक ही वोट है। इस राजनैतिक समानता के साथ-साथ हमने सामाजिक न्याय का भी आश्वासन दिया है। आर्थिक और सामाजिक विषमता की परिस्थिति में राजनैतिक स्वतंत्रता चरितार्थ नहीं हो सकती, यह सिद्धान्त निरपवाद है। इस देश के सभी नागरिकों के लिए विवाह, संपत्ति, विवाह-विच्छेद आदि सभी वैयक्तिक अधिकारों के विषय में समान अधिकार होने चाहिए। उन अधिकारों में स्त्री-पुरुष का भेद भी नहीं होना चाहिए। तभी हमारे राजनैतिक अधिकार वास्तविक हो सकते हैं। हिन्दूकोड का यह बुनियादी सिद्धान्त है।

दो उपलक्षणात्मक उदाहरण

दो सांकेतिक उदाहरण ले लीजिये। डॉ० आंबेडकर साहब आज संस्कृत के प्रथितयश विद्वान् हैं। वे अध्ययनशील अध्यापक हैं। यदि वे चाहें तो किसी भी कॉलेज में प्राध्यापक बन कर ब्राह्मण के लड़कों को संस्कृत पढ़ा सकते हैं। परन्तु कोई भी वैदिक ब्राह्मण पुरोहित उनका विवाह वैदिक-संस्कारों के अनुसार करने के लिए तैयार नहीं होगा और न उन्हें यज्ञोपवीत पहनाने के लिए तैयार होगा। जो लोग हिन्दू-विवाह-पद्धति की दुहाई देते हैं, उनको इस बात की सुध नहीं रहती कि हिन्दू-विवाह-पद्धति जैसी कोई वस्तु है ही नहीं।

दूसरा उदाहरण लीजिये। श्री अम्मु स्वामीनाथम्,हंसा मेहता या सुचेता कृपलानी आज राष्ट्रपति या प्रधान-मंत्री बन सकती हैं; परन्तु कौटुंबिक क्षेत्र में उन्हें पुरुष के समान सांपत्तिक अधिकार नहीं मिल सकता, सामाजिक क्षेत्र में उन्हें वैदिक विधि का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। इसका मतलब यह है कि यदि कल कोई स्त्री किसी राज्य की राज्यपाल बन जावे तो यह असंभव नहीं है कि वह अपने पति की दो या अनेक जीवित भाषाओं में से एक हो। यानी वह एक पुरुष की अर्धांगिनी ही नहीं, पंचागिनी, दशांगिनी और उपांगिनी भी हो सकती है। इस अनर्थकारक विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिए हिन्दूकोड उपस्थित किया गया था।

हिन्दुओं तक ही सीमित क्यों ?

शिकायत यह हुई कि वह हिंदुओं तक ही मर्यादित क्यों रखा गया। इसका कारण स्पष्ट है। मुसलमानों में, ईसाइयों में समस्त मुसलमानों के लिए और समस्त ईसाइयों के लिए एक ही संस्कार विहित हैं इसलिए उनमें एक प्रकार की सांस्कारिक समानता है। हिन्दुओं में हरएक जाति और उपजाति के लिए अलग-अलग संस्कार और रीति-रिवाज हैं, इसलिए समस्त हिंदुओं को एक धरातल पर लाना प्रगति का पहला कदम है।

घोर सामाजिक अपराध

जो लोग यह चाहते हैं कि भारत के सभी नागरिकों के लिए एक ही संप्रदाय-निरपेक्ष सामाजिक विधान हो, वे हिन्दूकोड से एक कदम आगे बढ़ना चाहते हैं। उनको बधाई है। लेकिन निवेदन इतना ही है कि वे पहला कदम उठाने का विरोध कैसे कर सकते हैं ? यदि वे पहला कदम उठाने से इनकार करते हैं तो उनका प्रगतिवाद केवल दंभ है। भारतीय संसद के सदस्यों से हिन्दूकोड-बिल की नियोजित धाराओं का विरोध करके इस देश की सामाजिक उन्नति को अपरिमित क्षति पहुँचायी है। पिछड़ी हुई और अप्रतिष्ठित हिन्दू जातियाँ आज उनके इस अपराध की गम्भीरता को भले ही न समझ सकें, लेकिन भावी पीढ़ियाँ उनकी घोर निन्दा किये बिना नहीं रहेंगी।

ता० ८-१०-१९५१

३. पदवियाँ : अवाञ्छनीय उपक्रम

"परीक्षा में जो लड़के ज्यादा मार्क प्राप्त करेंगे, उनको इनाम मिलेगा, स्कॉलरशिप भी मिल सकती है।" हेड मास्टर साहब ने एलान किया! लड़कों में चढ़ा-ऊपरी शुरू हुई। जिनको ज्यादा मार्क मिले, उन्हें इनाम और वजीफे मिले। बाकी के लड़के मुँह लटकाये रह गये।

पूँजीवादी व्यवस्था का अवशेष

विशेष काम के लिए पारितोषिक या दक्षिणा देने की प्रथा पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक अनिवार्य अंग है। इसमें से काम के लिए प्रेरणा पैदा होती है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में आर्थिक क्षेत्र के मूल्यों का विनियोग जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी किया जाता है। इसीलिए हरएक स्तोत्र के अन्त में तथा सत्यनारायण की जैसी पूजा-कथाओं में फलश्रुति होती है कि जो यह पूजा करेगा या कथा सुनेगा, उसे अमुक-अमुक फल मिलेगा। उसका अभिप्राय यही होता है कि पूजा और उपासना के लिए रुचि तथा प्रवृत्ति पैदा हो। इसीका नाम मीमांसा में "फलाभिसंधि" है। कर्मयोग में यह फल भी कामना कहलाती है और अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में यही मुनाफे की नीयत या लाभ की अभिलाषा है।

समाज-धुरीणों के सामने समस्या यह रही है कि यदि मुनाफे की मंशा हटा दी जाय, तो काम के लिए प्रेरणा कहाँ से आयेगी! समाजवाद ने इसके जो व्यावहारिक उत्तर खोजने की कोशिश की, उनमें से एक उत्तर है : लोक-प्रशंसा, जनता की वाहवाही, बड़ों की शाबाशी! आप अपनी पूरी ताकत लगा कर दो मील दौड़े, दम फूल गया, हाँफने लगे। लेकिन मीर निकले। समाज के बड़े-बड़े आदमियों ने आपको पीठ थपथपा कर शाबाशी दी। आपने अपनी सारी थकावट और कोशिशों का फल पा लिया। कृतार्थ होकर जनता को हाथ जोड़े।

सामाजिकता बढ़ाने के लिए

यह प्रतियोगिता की भावना का निराकरण नहीं है और न मुनाफे की भावना का ही निराकरण है। प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ यानी संपत्ति या पैसा पाने की आकांक्षा को हमने लोक-प्रशंसा पाने की आकांक्षा में बदल दिया। परन्तु यह वैयक्तिक पारितोषिक की ही भावना है, समाजहित की प्रेरणा नहीं है, इसलिए हम इसे क्रान्तिकारी सामाजिक मूल्य नहीं मान सकते। पहिया, चक्की, सूई-धागा जैसी नित्य जीवनोपयोगी चीजों का आविष्कार जिन अप्रसिद्ध महान् व्यक्तियों ने किया होगा, उनके नाम कोई नहीं जानता होगा। इन अज्ञात आविष्कर्ताओं को कोई श्रद्धाञ्जलि भी समर्पित नहीं करता। फिर भी उनके आविष्कार सामाजिक मूल्यों के रूप में परिणत हो गये हैं। व्यक्तिगत महत्त्व की आकांक्षा जितनी कम होगी, सामाजिकता उतनी ही अधिक होगी।

अस्वास्थ्यकर प्रतियोगिता

इसी दृष्टि से भारत के संविधान में पदवियों, उपाधियों और इसी प्रकार के गौरव-निदर्शक प्रतीकों के विषय में अरुचि बतलायी गयी है। शुरू-शुरू में पुरुषार्थवान्, गुणवान् तथा परोपकारी व्यक्तियों का ही गौरव होता है। परन्तु आगे चल कर इन पदवियों को प्राप्त करने की आकांक्षा नागरिकों में पैदा होने लगती है। इसी आकांक्षा

से वे जन-कल्याण के कार्य करने लगते हैं। कुछ कालावधि बीतने पर बसीलेबाजी पैदा हो जाती है और पदवियों के लिए एक अस्वास्थ्यकर प्रतियोगिता चल पड़ती है। राजाओं के राज्य में यही अनुभव हुआ। राज्यसत्ता के विराट स्वरूप का नाम लोकसत्ता नहीं है। पदवियाँ राजदरबार में बँटती थीं, जो राजकृपा से बँटती थीं। लोगों का दरबार किस विधान-भवन, संविधान-भवन या संसद-भवन में नहीं होता। राज्य-भवन और राष्ट्र-भवन में सुतराम् नहीं होता। इसलिए हमारे देश में उपाधिविस्तार का जो नया उपक्रम जारी हुआ है, वह अवाञ्छनीय ही नहीं, अप्रस्तुत भी है।

समाज में लोककार्य-निरत जो व्यक्ति होते हैं, उन्हें लोकप्रियता तथा लोकादर कभी व्यक्त रूप से, कभी अव्यक्त रूप से निरन्तर प्राप्त होता रहता है। अक्सर उसे कोई प्रकट नहीं करता। उसका कोई औपचारिक प्रतीक भी नहीं होता। जहाँ औपचारिक प्रतीक होता भी है, वहाँ वह राज्यसत्ता-निरपेक्ष होता है, लोकहृदय में से स्वाभाविक रूप से स्फूर्त होता है। उसका मूल्य किसी औपचारिक प्रतीक या पारितोषिक को कर्म प्राप्त नहीं हो सकता। लोगों के दरबार अनियतकालिक होते हैं। प्रसंगवश सार्वजनिक सभाओं में एकत्र जनसमुदाय स्वयं स्फूर्ति से किसीको महात्मा, किसीको सरदार, किसीको लोकमान्य, किसीको महर्षि कह देता है। यह टकसाली सिक्का नहीं है, फिर भी वह चल पड़ता है। जवाहरलालजी को हजार पदवियाँ दीजिये, भारत की जनता "जवाहरलाल" ही कहेगी। उनका नाम ही उनकी पदवी है। ऐसे मनुष्य को 'स्वनाम-धन्य' कहते हैं। ये पदवियाँ चलती हैं। उनकी जगह टकसाली सिक्के चलाने का प्रयास व्यर्थ है।

७-९-१९५४

४. भेद-निदर्शक उपपद

हमारे देश में व्यक्तियों के नाम के पहले शिष्टाचार-निदर्शक उपपद लगाने की जो प्रथा है, वैसी संसार के प्रायः सभी देशों में है। पूँजीवादी समाज-रचना की श्रेणियों और वर्गों के अनुरूप इन उपपदों में भी फर्क होता है। कुछ उपपद सामाजिक रुतबे के द्योतक होते हैं और कुछ पदवियों तथा उपाधियों के। इंग्लैण्ड में ड्यूक, लॉर्ड आदि उपपदों के अलावा सर इत्यादि उपाधियाँ हैं। इनमें से अधिकांश वर्गभेद और श्रेणीभेद की द्योतक होती हैं। हमारे देश में वर्णभेद-सूचक और विशिष्ट उपाधियों के सूचक उपपदों के अतिरिक्त जातिभेद और सम्प्रदायभेद-सूचक उपपद भी हैं। श्री जवाहरलालजी, गोविन्दवल्लभ पन्त, हृदयनाथ कुञ्जरू, बनारसी प्रसाद चतुर्वेदी, गोपीचन्द भार्गव, ये सब पण्डित हैं। श्री गोविन्ददास, रामकृष्ण डालमिया, बृजलाल बियाणी आदि सब सेठ

हैं। छेदीलाल, निरञ्जनसिंह, भानुप्रताप सिंह आदि सब ठाकुर हैं। लाजपतराय, अचिन्तराम आदि बहुत से 'लाला' हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत 'उपपद' हैं। कोई 'मौलवी' है, कोई 'मौलाना' है, कोई 'जनाब' है, कोई 'मुन्शी' है, कोई 'खांसाहिब' हैं। इसी तरह के संप्रदाय-निदर्शक उपपदों में सरदार अजीतसिंह, सरदार तारासिंह आदि उपपद भी हैं।

स्त्री और पुरुष के लिए भिन्न-भिन्न उपपद तो संसार के सभी देशों और संप्रदायों में हैं, परन्तु हमारी संस्कृत भाषा में यह विशेषता है कि प्राचीनकाल में देवताओं और देवियों के लिए समान उपपद का प्रयोग होता था। राम के लिए और सीता के लिए, शिव और दुर्गा के लिए, राधा और कृष्ण के लिए, गणेश और शारदा के लिए समान उपपदों का प्रयोग आज भी होता है। यथा श्रीरामचन्द्रजी, श्रीसीताजी, श्रीशिवजी श्रीदुर्गाजी, श्रीकृष्णजी, श्रीराधाजी इत्यादि-इत्यादि। परन्तु इधर हम देखते हैं कि यदि हम श्री कृपालानीजी कहते हैं, तो सुचेताजी के लिए श्रीमती सुचेताजी कहते हैं, श्रीमती सुशीला नायर, श्रीमती अमृत कौर कहते हैं। राम, कृष्ण और गणेश के समान सीताजी, राधाजी और शारदाजी, गायत्रीजी, गीताजी आदि सब केवल 'श्री' ही है, तो सुचेताजी, विजयलक्ष्मीजी, सुशीलाजी, अमृत कौरजी के भी 'श्री' रहने में क्या हर्ज है ?

दक्षिण में तो और भी मजा है। वहाँ सुहागिन स्त्रियों के लिए 'सौभाग्यवती' उपपद अनिवार्य रूप से लगाया जाता है। यदि न लगाया जाय, तो वह केवल अशिष्टता का लक्षण ही नहीं माना जाता, बल्कि अशुभ-सूचक भी माना जाता है। इसलिए स्त्रियाँ जब अपनी हस्ताक्षर भी करती हैं, तो सौ० सीताबाई, सौ० दुर्गाताई, सौ० राधादेवी लिखती हैं। कुमारिका के लिए अक्सर 'कुमारी' उपपद लगा देते हैं और विधवा के लिए अब कोई 'गंगास्वरूप' या 'गंगाभागीरथी' के बदले सिर्फ 'श्रीमती' का प्रयोग करते हैं ?

पुरुषों के लिए दक्षिण में भी ऐसा कोई भेद नहीं किया जाता। पंजाबराव देशमुख श्री पंजाबराव देशमुख हैं, काकासाहब श्री काकासाहब हैं, शंकरराव देव, श्री शंकरराव देव हैं और विनोबा भी श्री विनोबा हैं। इनमें से कौन विधुर है, कौन जोवितपत्नीवाले हैं और कौन अविवाहित हैं, यह जानने की आकांक्षा किसीको नहीं होती। स्त्रियों के विषय में यह आकांक्षा इसलिए है कि स्त्री पुरुष-रक्षित और पुरुष-प्रकाशित है!

लोकशाही में यह सभी नागरिकों को समान भूमिका पर लाना चाहते हैं। भारत की सरकारों ने तो अपने दफ्तरी व्यवहारों में 'श्री' का प्रयोग करने की हिदायत जारी की है, परन्तु इसका स्वीकार अभी लोक-मानस ने नहीं किया है। हमारे पूर्वजों की कृपा से हमें अति प्राचीन परम्परा से सभी जातियों और वर्गों के पुरुषों के लिए तथा स्त्रियों के लिए साम्यसूचक उपपद, 'श्री' उपलब्ध है। सामाजिक संकेतों के शुद्धीकरण के लिए उसीका सार्वत्रिक प्रयोग करने का संकल्प करना चाहिए।

दिसम्बर, १९५४

५. शुद्ध भोजन का नया अर्थ

अभी उस दिन नागपुर में एक शुद्ध भोजन-घर मेरे हाथों खोला गया। यह भोजन-घर नागपुर प्रांत के वानप्रस्थ विधायक कार्य-नेता श्री तात्याजी वझलवार तथा त्यागवीर श्री पूनमचंद राँका की प्रेरणा से कायम किया गया और उसके व्यवस्थापक श्री वामनराव डाहाके हैं। ये तीनों जानते हैं कि मैं अपनी जीभ से बोलने और चखने का काम काफी लिया करता हूँ। इसीलिए मुझे तलब किया गया।

शुद्ध भोजन का एक पहलू

भारतवर्ष में आहार-शुद्धि की प्रवृत्ति प्रागैतिहासिक काल से चलती आयी है। यदि आहार शुद्ध हो, तो मनुष्य का सत्त्व यानी उसके हृदय की भावनाएँ और आकांक्षाएँ भी एक हद तक शुद्ध होती हैं। यह सिद्धानत वैज्ञानिक है। हमारे इस देश में जीव ही सारी सृष्टि का सबसे मूल्यवान् धन माना गया है। संसार में जीव की और जीवधारियों की हिफाजत करना और उनकी प्रतिष्ठा बढ़ाना हमने अपनी सभी आर्थिक योजनाओं का उद्देश्य माना है। परिणाम यह है कि भारत में जितने निरामिष-आहारी यानी मांस मछली और अंडे से परहेज करनेवाले लोग हैं, उतने दुनिया के और किसी भी देश में नहीं। शुद्ध भोजन का यह एक पहलू है।

'शुद्ध भोजनालय' की दृष्टि

लेकिन जिस भोजन-गृह का उद्घाटन मैंने किया, उसका संबंध इस पहलू से नहीं है। स्वदेशी-आंदोलन के जमाने से शुद्ध आहार और शुद्ध वस्त्र इस देश में एक नये अर्थ में काम में लाये गये। यहाँ के जैनी विदेशी शक्कर नहीं खाते थे, लेकिन विदेशी कपड़ा बड़े शौक से बरतते थे। उन्हीं दिनों, जब कि हम लोग कोई आठ-नौ साल के रहे होंगे, हमसे यह कसम ली गयी कि हम विदेशी शक्कर खायेंगे तो गाय का मांस खायेंगे। विदेशी शक्कर न खानेवाले जैनियों की भावनाओं से यह बिलकुल अलग तरह की भावना थी। यहाँ भी उद्देश्य निरामिष आहार ही था, लेकिन इस आमिष का अर्थ मांस नहीं, लालच है।

यह भोजन-घर अगर एक दूकान की तरह मुनाफे के लिए चलाया जाय, तो हम इसे निरामिष भोजनालय या शुद्ध भोजन-घर नहीं कह सकेंगे, यह दृष्टि इसके संचालकों की है। इसमें भोजन की जो सामग्री काम में लायी जायगी, वह ऐसी होगी, जिसमें शोषण की बू न आती हो। संचालकों ने यह निश्चय किया है कि जिस भोजन-गृह में हाथ-कुटाई के चावल, हाथ की चक्की का आटा, घानी का तेल और हाथ के पिसे मसाले ही काम में लाये जायेंगे। शुद्ध-भोजन की यह कल्पना मुख्य रूप से आर्थिक है। हाथ-कुटाई की और हाथ पिसाई की चीजें स्वास्थ्यकर और पथ्यकर भी साबित हुई हैं, परन्तु

... with Care

इसे उस भोजन का एक आनुषंगिक और विशेष गुण माना जाना चाहिए। उसका मूलभूत गुण यह है कि वह शोषणविहीन अर्थरचना कायम करने की विधायक प्रवृत्ति का एक अंग है। इसी दृष्टि से उसका महत्त्व भी है।

यों हमारे देश में शुद्ध भोजन का आग्रह रखनेवालों की यहाँ तक नौबत गयी कि उन्होंने कुछ व्रत ऐसे भी रखे, जिसमें पशुजन्य या पशुओं के श्रम से उपार्जित पदार्थ वर्जित माने गये। जीव की प्रतिष्ठा की उनकी भावना इस सीमा तक पहुँची कि पशुओं का शोषण भी उन्होंने अनुचित समझा। आज यदि हम अपने जीवन में मनुष्य के ही शोषण से बच सकें तो भी गनीमत है!

गरीबों के लिए संभव भोजन

लेकिन असली सवाल यह है कि क्या यह भोजन वे गरीब लोग खा सकेंगे, जिनको उसकी सख्त जरूरत है ? जिस शुद्ध भोजन का जिक्र हमने ऊपर किया है, वह अक्सर उच्चवर्णीय और उच्चवर्गीय लोगों को ही नसीब हुआ। ग्रामोद्योग की ये सारी चीजें बाजार में मिलनेवाली दूसरी चीजों की अपेक्षा कहीं महँगी पड़ेंगी। नतीजा यह होगा कि यह शुद्ध भोजन वे ही लोग खा सकेंगे, जो महँगी चीजें खा सकते हैं। गरीबों को उसी सस्ते और निःसत्व भोजन से संतोष मानना होगा, जो दूसरे भोजनालयों में मिलता है। हमारा बुनियादी सवाल यही नहीं है कि भोजन अच्छा हो, बल्कि यह भी है कि वह सबके लिए सुलभ हो। ग्रामोद्योगी भोजनालय अगर सस्ते दामों में भोजन देने का इरादा करें तो उन्हें घाटा आयेगा। अर्थात् आर्थिक दृष्टि से ये भोजनालय स्वावलंबी नहीं हो सकेंगे। तब घाटे की रकम चंदा उगाह कर पूरी करनी होगी। यानी हमारी दूसरी कई लोकोपयोगी संस्थाओं की तरह यह संस्था भी धर्मादाय पर चलेगी। दान या भीख पर चलनेवाली संस्थाएँ लोगों का थोड़ा बहुत उपकार भले ही कर सकें, लेकिन वे नवीन अर्थरचना की बुनियाद नहीं डाल सकतीं। शुरू-शुरू में खादी का भी यही हाल हुआ। वह मिल के कपड़े से महँगी पड़ती थी, इसलिए लोगों को मानवता की और देशभक्ति की भावना से महँगी खादी खरीदनी पड़ती थी। गरीब लोग उसे बहुत कम खरीद सकते थे। जिन लोगों की अपनी कपड़े की मिलें थीं या मिल के कपड़े की दूकानें थीं, शौक के लिए या सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए वे खादी पहनते थे। जो लोग खादी बनाते थे, उन लोगों की भी औकात उसे पहनने की नहीं थी। इसलिए चरखा-संघ को अपनी नीति में उत्तरोत्तर परिवर्तन करने पड़े और आखिर में स्वावलंबी खादी के सिद्धांत को अपनाना पड़ा।

आर्थिक स्वावलंबन की अनिवार्यता

चरखा-संघ के इस विकास-क्रम से देहाती भोजनालय जैसी संस्थाओं को भी सबक लेना चाहिए। आज सारे देश में शुद्ध ग्रामोद्योगी चीजों से बना हुआ भोजन

देनेवाले भोजनालयों की बहुत बड़ी जरूरत थी। लेकिन साफ है कि ये भोजनालय अन्न-सत्र या थोड़ी-बहुत मात्रा में भी सदावर्त नहीं हो सकते। और फिर भी यह आवश्यक है कि वहाँ मिलनेवाला भोजन गरीब आदमी की पहुँच के भीतर होना चाहिए। मुनाफे की बात तो दूर, इन भोजनालयों को स्वावलम्बी बनाना कोई आसान काम नहीं है। शुरू-शुरू में तो कुछ दिन वे दान के रूप में लिये हुए पैसे के आधार पर चलाये जा सकेंगे, लेकिन बहुत जल्दी ऐसे भोजनालयों के संचालकों को उन्हें आर्थिक दृष्टि से स्वयंपूर्ण बनाने की तरकीब खोजनी होगी।

११-११-१९५१

६. क्रीडांगण का सांस्कृतिक महत्त्व

युद्ध और खिलाड़ीपन

किसी जमाने में वीर पुरुषों के लिए युद्ध भी एक खेल था। जब वे लड़ते थे, तब उनमें दुश्मनी की अपेक्षा प्रतिकार की भावना अधिक होती थी। वे कमरपट्टे के नीचे चोट नहीं करते थे। युद्ध भी एक कला थी। उसमें से दिलदारी का और उदारता का विकास होता था। अब वे दिन हवा हो गये। अब तो दुनिया के महान् क्रांतिप्रवर्त्तक भी कहने लगे हैं कि अपने शत्रु से मनःपूर्वक द्वेष करो। ऐसे युद्धों में से नृशंसता की वृत्ति का विकास होता है, वीरवृत्ति का नहीं। ऐसी युद्धनीति जल्लाद पैदा करेगी, न कि सिपाही।

दर्शकों का पक्षाभिमान

पहले युद्ध खेल था। अब तो खेल भी युद्ध हो रहा है। खिलाड़ी की वृत्ति का उसमें नाम-निशान भी नहीं रह गया है। जो खेलते हैं, उन्हें खेल की प्रवीणता की उतनी परवाह नहीं होती, जितनी कि हार-जीत की होती है। जो लोग खेल देखने जाते हैं वे भी दो दलों में बँट जाते हैं और उनमें केवल आवेश ही नहीं होता, बल्कि पारस्परिक द्वेष भी होता है। उधर खिलाड़ी खेलते रहते हैं, इधर इनकी कहा-सुनी और हाथापायी होने लगती है, क्रीडांगण हृदय की क्षुद्रता की रंगभूमि बन जाता है।

खेल का दुरुपयोग

जहाँ धार्मिक या जातीय आधार पर खेल की चमू (टीम) चुनी जाती है, वहाँ तो अनर्थ का कोई ठिकाना ही नहीं रहता। दर्शकों में जितने हिन्दू होते हैं, वे हिन्दू-

चमू के पक्षपाती बन जाते हैं। जो मुसलमान होते हैं, वे मुस्लिम-टीम के हिमायती बन जाते हैं। जो अन्य जातीय या अन्य धर्मीय होते हैं वे अपनी-अपनी जमात या मजहब के अभिमानी बन जाते हैं। इस प्रकार इस खेल के द्वारा हम पारस्परिक सद्भाव का विकास करना चाहते हैं। वही साम्प्रदायिक कटुता और धार्मिक विद्वेष बढ़ाने का साधन बन जाता है।

जातीय और सांप्रदायिक कटुता का प्रतिकार

इस दोष के प्रतिकार के लिए यह उपाय सोचा गया कि खेल की टीमें जाति, संप्रदाय या धर्म के आधार पर चुनी जाने के बदले क्षेत्र के आधार पर चुनी जायें। एक संस्था की टीम दूसरी संस्था के साथ सामना करती है। एक जिले की, प्रांत की या देश की टीम दूसरे जिले, प्रांत या देश के साथ मैच खेलती है। इसमें सांप्रदायिक, जातीय या धार्मिक अभिमान की जगह क्षेत्राभिमान और प्रादेशिक अभिमान ले लेता है— और इस प्रकार सांप्रदायिक, जातीय तथा धार्मिक कटुता से हम बच जाते हैं।

वस्तुगत दोष

लेकिन जब कोई क्षेत्र ही सांप्रदायिक आधार पर कायम हुआ हो, तब खेल में भी सांप्रदायिक पक्षपात टालना असम्भव हो जाता है। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान की टीमों का खेल एक-दूसरे के लिए सद्भाव बढ़ाने के उद्देश्य से कराया जा रहा है। जिन लोगों ने खेल का आयोजन किया, उनका उद्देश्य सर्वथा प्रशंसनीय और उदात्त है। इस देश के जो राज्यनेता और लोकनेता हैं, उनकी वृत्ति भी इस संबंध में सर्वथा अनुकरणीय और निर्दोष है। लेकिन वस्तुस्थिति में जो दोष है, उसका निराकरण वे भी नहीं कर सक रहे हैं।

भारतनिष्ठ मुसलमानों से निवेदन

पाकिस्तान का निर्माण सांप्रदायिकता के आधार पर हुआ है, यह ऐतिहासिक सत्य है। जिनकी भावना के कारण पाकिस्तान का निर्माण हुआ है, उनमें से अधिकांश भारत-निवासी हैं और भारतीय नागरिक हैं, यह भी वस्तुस्थिति है। ये लोग अपनी पुरानी भावना को छोड़ कर हमारे राष्ट्रनेता जवाहरलालजी की भावना को सच्चे दिल से अपनायेंगे, तभी भारत और पाकिस्तान के बीच के खेलों के आयोजन अपने उद्देश्य में सफल होंगे। इसके बदले इस देश में रहनेवाले पढ़े-लिखे और अपढ़ मुसलमान तथा नयी पीढ़ी के प्रतिनिधिभूत विद्यार्थी यदि इस मंच के प्रसंग को सांप्रदायिक अभिमान के प्रसंग का एक प्रसंग मान लें, तो अनर्थ होगा। हम दूसरी जगह का हाल नहीं जानते, परन्तु नागपुर का हाल हमें मालूम है। हमें यह मालूम हुआ है कि हिन्दुस्तान-पाकिस्तान का मैच देखने के लिए दर्शकों के नाते जितने बड़े-बूढ़े मुसलमान गये थे, उतने शायद ही और किसी मैच के लिए गये हों। उनमें से बहुतेरों ने अपनी पुरानी प्रेरणा के अनुरूप

पाकिस्तान-टीम को ही प्रोत्साहन देना अपना कर्तव्य समझा। हम यह समझ सकते हैं कि शायद यह उनकी पुरानी प्रेरणा के वेग का स्वाभाविक परिणाम रहा हो, परन्तु इसका यह मतलब तो अवश्य हुआ कि वह उनकी पुरानी वृत्ति अब तक अबोध रूप से उनके भीतर छिपी हुई है। कुछ लोगों का यह खयाल है कि नागपुर के हिन्दुत्ववादियों ने जो विरोध दर्शाया, उसकी यह प्रतिक्रिया हुई होगी। परन्तु ऐसी प्रतिक्रिया की सम्भावना भी अपने-आप में कोई कम खतरनाक चीज नहीं है। इस देश के देशभक्त मुसलमानों के लिए यह एक गंभीर चिन्ता का विषय होना चाहिए। अगर खेल के मैदान पर यह वृत्ति रही, जिसे हम उस वृत्ति के निराकरण का अन्यतम क्षेत्र मानते हैं, तो राजनैतिक और सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में क्या हाल होगा ? हमें आशा और विश्वास है कि नागपुर में जो वृत्ति दिखाई दी, वह दूसरे स्थानों में व्यक्त नहीं हुई होगी।

जवाहरलालजी का आदर्श

नागपुर में जब एक प्रमुख हिन्दुत्ववादी नेता ने पाकिस्तान टीम के साथ मैच का बहिष्कार करने की बात कही, तो हमारे दिलदार और दयानतदार प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट और कड़े शब्दों में उनका धिक्कार किया। उन्होंने ठीक ही कहा कि इस प्रकार का विरोध मन के ओछेपन का और छोटे दिमाग का द्योतक है! हमारे पड़ोसी राष्ट्र के साथ हमारा राजनैतिक और राष्ट्रनैतिक झगड़ा भले ही चलता रहे, लेकिन दोनों राष्ट्रों में रहनेवाले नागरिकों में पारस्परिक सौहार्द और सद्भाव का निर्माण करने के लिए हम जितने प्रसंग उपस्थित कर सकें, उतने हमको करने चाहिए। शिक्षण के क्षेत्र में, खेल के क्षेत्र में, कला के क्षेत्र में ऐसे कई प्रसंग हम उपस्थित कर सकते हैं। इसी प्रकार दोनों देशों में सांस्कृतिक सम्पर्क और सहयोग की भावना बढ़ेगी। इसलिए नागपुर के हिन्दुत्ववादी नेता की बेजा हरकत का जवाहरलालजी ने जो घोर धिक्कार किया, वह जितना आवश्यक था, उतना ही प्रसंगोचित भी था। हमारा निवेदन इतना ही है कि इस देश के जो समझदार मुस्लिम नागरिक हैं, वे भी जवाहरलालजी की इस भव्य भावना के साथ समरस हों और एक संप्रदाय-निरपेक्ष राष्ट्र के अनुरूप वृत्ति का विकास अपने-आप में करें। तभी ऐसे खेल के आयोजनों का उद्देश्य सफल होगा।

१३-११-१९५२

७. मानवीय पुरुषार्थ को प्रणाम

'उन्नति' की आकांक्षा

मनुष्य को ऊपर आसमान की तरफ चढ़ने का शौक अनादि काल से रहा है।

हम जब दशदिशाओं के अधिष्ठाता देवताओं का अभिवादन करते हैं, तो ऊपर की तरफ प्रणाम करते हुए 'उर्ध्वायै दिशे ब्रह्मणे नमः' (ऊपर की दिशा में ब्रह्मा को प्रणाम।) कहते हैं। हमारी यह निष्ठा निरन्तर रही है कि भगवान् का बसेरा आसमान में है। इसलिए मनुष्य की सबसे बड़ी आकांक्षा 'उन्नति' की— ऊपर-ऊपर को उठने की रही है।

उच्चता का मानबिन्दु

कालिदास ने कहा था कि हिमालय पृथ्वी नापने का मानदण्ड है। एक दूसरे अर्थ में वह हमारे धरातल की ऊँचाई नापने का भी मानदंड है। पृथ्वी आकाश का आलिंगन करने के लिए ऊपर को उठी और जहाँ तक वह पहुँच सकी, उस मुकाम का नाम 'गौरीशंकर' है, जिसे अंग्रेजी में 'एवरेस्ट शिखर' कहते हैं। यह शिखर पृथ्वी का उच्चतम बिन्दु है। वह कैलाश पर्वत से भी ऊँचा है। हमने कैलास पर्वत को विश्व का शिवालय माना है। कुछ प्रान्तों में 'कैलास' शब्द उच्चलोक का वाचक है। जब कोई व्यक्ति परलोक को सिधारता है तो कहा जाता है कि वह 'कैलासवासी' हो गया, अर्थात् शिव-लोक को पहुँच गया। कैलास और मानस-सरोवर प्रागैतिहासिक काल से हमारे देश के पुण्यक्षेत्र रहे हैं। परन्तु गौरीशंकर शिखर पर जाने का प्रयास शायद ही किसीने किया हो। इस देश के योगियों, तपस्वियों और मुनियों की हिमालय तपोभूमि और उपासना-क्षेत्र है। परन्तु केवल लौकिक यश प्राप्त करने के लिए, प्रकृति पर विजय पाने की आकांक्षा मात्र से पर्वतारोहण करने का प्रयास इस देश के पुरुषार्थवान् साधन-सम्पन्न तथा साहस-प्रेमी पुरुषों ने नहीं किया। इस प्रकार की प्रेरणा ही हमारे जीवन-दर्शन में अन्तर्भूत नहीं थी।

सम्राट के सिंहासन से भी ऊँचा

अभी कोई दो सप्ताह पहले इतिहास में पहली बार कर्नल हंट नामक ब्रिटिश पथकनायक के नेतृत्व में शेरपा श्री तेनसिंह और श्री हिलेरी पृथ्वी के सर्वोच्च बिन्दु पर पहुँच गये। सारे संसार ने उनका उचित गौरव और अभिनन्दन किया। इंग्लैंड की रानी ने जिस दिन 'राज्यारोहण' किया, उसी दिन इस गिर्यारोहण' का समाचार संसार पर प्रकट किया गया। परन्तु 'राज्यारोहण' की अपेक्षा यह 'गिर्यारोहण' कहीं अधिक उदात्त और भूषणास्पद है। उसने मानव के गौरव को बढ़ाया है। पुरुषार्थ की प्रेरणा को महामहिमान्वित किया है। तीन मानवों की इस त्रिमूर्ति में से दो का हिमालय की चोटी पर पहुँच जाना संसारभर के मानवों के लिए प्रसन्नता और क्षम्य अभिमान का विषय है।

ऊँची भूमिका और व्यापक दर्शन

मनुष्य जितना ऊँचा चढ़ता है, उतना उसका क्षितिज बढ़ता चला जाता है। हमारी भूमिका जितनी उच्च हो, हमारा दर्शन उतना ही व्यापक होना चाहिए। हम तो इतना ही जानते हैं कि तीन मनुष्यों ने गौरीशंकर पर चढ़ने का सफल प्रयास किया। इनमें से कौन

'अंग्रेज' था, कौन 'न्यूजीलैंडर' और कौन 'भारतीय' था, इससे हमें मतलब! इतनी ऊँचाई पर पहुँचने पर भी क्या 'अयं निजः परो वा' (यह अपना है या पराया है ?) यह भावना बाकी रह जाती होगी ? ये गिर्यारोही जब एक-एक कदम ऊपर चढ़ते होंगे, तो क्या इनको अपने खून, जाति और धर्म के भेद का खयाल भी रहता होगा ? वे तो कंधे-से-कंधा भिड़ा कर चलते थे। एक-दूसरे के संगी-साथी थे। जीवन के भी साथी, मृत्यु के भी साथ; सुयश के भी साथी और अपयश के भी साथी। हम जो नीचे रह गये थे, और जिन्होंने कभी सिर ऊँचा उठाकर गौरीशंकर शिखर की ऊँचाई देखने की भी कोशिश नहीं की, वे आज अपनी-अपनी रिश्तेदारी का दावा लेकर आगे बढ़ रहे हैं।

वे अखिल मानवीय हैं

कोलंबस कौन था ? आइन्स्टाइन कौन है ? न्यूटन कहाँ का था ? यूक्लिड् किसका रिश्तेदार था ? वाल्मीकि, व्यास, बुद्ध, महावीर और नानक कब और कहाँ पैदा हुए थे ? उनका वर्ण और जाति कौन-सी थी ? इसकी जाँच-पड़ताल व्यापक मानवीय वृत्ति रखनेवाला सामान्य जन कभी नहीं करता। हमारे यहाँ तो संकेत ही है कि नदी का मूल और ऋषि का कुल मत पूछो। प्रकृति के नियमों का जिन्होंने आविष्कार या जीवन की साधना का अनुष्ठान किया, वे सभी अखिल मानवीय हैं। हम सबके आत्मीय हैं, आप्त हैं और कुटुंबी हैं। हम उनके हैं, वे हमारे हैं। गौरीशंकर शिखर पर जो पहले पहुँचा, उसे पहला नमस्कार है और जो उसके बाद पहुँचा, उसे दूसरा नमस्कार है। लेकिन नमस्कार के क्रम के कारण उनकी प्रतिष्ठा और महिमा में विशेष अंतर नहीं पड़ना चाहिए।

अभिमानयुक्त प्रसन्नता का अवसर

प्रश्न यह नहीं है कि कौन-सा ध्वज गौरीशंकर शिखर पर सबसे पहले फहराया गया। आनन्द का विषय यह है कि संसार के इतिहास में पहली बार गौरीशंकर-शिखर पर मानवीय पुरुषार्थ की पताका लहरायी। मानवमात्र के लिए यह अभिमानयुक्त प्रसन्नता का अवसर है।

हम शेरपा श्री तेनसिंह, श्री हिलेरी और उनके पथक-नायक कर्नल हंट तीनों का सविनय अभिनन्दन करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि उनके उज्ज्वल उदाहरण से हमारे देश के तरुणों में स्वार्थरहित पुरुषार्थ की प्रेरणा तथा प्रवृत्ति सतत विकसित होती रहे।

१२-६-१९५३

●

अप्रैल-मई

१९५५

'सर्वोदय' के प्रणाम

'सर्वोदय' १ अगस्त १९३८ को शुरू हुआ। यह गांधी-सेवा-संघ का मुखपत्र था। उस वाग्यज्ञ के अध्वर्यु आचार्य काका कालेलकर थे। किशोरलालभाई जैसे मनीषि और दार्शनिक उसमें लिखते थे। उसका अपना एक स्थान था। १९४८ के बाद वह फिर शुरू हुआ। अबकी बार विनोबा उसके अध्वर्यु बने। 'भूदान-यज्ञ-आरोहण' ने उसे अनुप्राणित किया। सर्व-सेवा-संघ का मुखपत्र, 'भूदान-यज्ञ' का मुखपत्र बन गया। परन्तु पू० काकासाहब उसकी तरफ प्रत्यक्ष ध्यान दे सकते थे। पू० विनोबा के लिए वह असंभव है। सारी जिम्मेवारी मुझ पर आ पड़ी। इस पवित्र और महान् कार्य के लिए आवश्यक पात्रता मुझमें कहाँ से आये ? 'सर्वोदय' प्रचार का उपकरण नहीं है। वह तो वाङ्मय-तप का साधन है। उसके लिए तपःपूत और संयत तथा प्रत्ययजन्य वाणी चाहिए। मैंने अपने को असमर्थ पाया। नम्रतापूर्वक अपनी अपात्रता सर्व सेवा संघ के सामने प्रकट की। मेरे पास समय का अभाव नहीं है। श्रमशक्ति का भी अभाव नहीं है। अभाव है योग्यता और क्षमता का। दुर्भाग्य तो यह है कि ऐसी परिस्थिति में 'सर्व सेवा संघ' ने 'सर्वोदय' बंद करने का निर्णय पू० विनोबा के संकेत पर किया।

सर्वोदय ने अपनी मर्यादा और कक्षा सँभालने की कोशिश की। प्रगल्भ अभिरुचि को वह संतोष नहीं दे सका। उसका विसर्जन भी उसके मर्यादा-पालन का ही द्योतक है।

अब तक 'सर्वोदय के पाठकों, हितैषियों और अभिभावकों ने जो अकारण कृपा और स्नेह रखा, उसके लिए कृतज्ञता-प्रकाशन की एकमेव रीति है, मौनपूर्वक प्रणाम!

-दादा धर्माधिकारी

दादा की विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित कृतियाँ

हिन्दी

सर्वोदय-दर्शन
मानवीय-क्रांति
क्रांति का अगला कदम
अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया
स्त्री-पुरुष सहजीवन
लोकनीति के मूल तत्त्व
दादा की नजर से लोकनीति
लोकनीति विचार
साम्ययोग की राह पर
दादा का स्नेह-दर्शन
गांधी का उत्तराधिकारी—जवाहरलाल
लोकतंत्र : विकास और भविष्य
लोकतंत्र की चुनौती
मानवीय निष्ठा
मनुष्य की नयी मंजिल-मैत्री
गांधी-पुण्य-स्मरण
दादा के शब्दों में दादा
लोक क्रांति के आयाम
नागरिक विश्वविद्यालय—एक परिकल्पना
सम्पूर्ण क्रांति के आयाम
दादा की कहानियाँ (सारस की टाँग)
क्रांतिकारी तरुणों से
नारिनरेश्वर (पुस्तिका)
बहनें और क्रांति (,,)
नये युग की नारी
गांधी की दृष्टि

मराठी

साम्य योगाचे मार्गावर
क्रांतिचे पुढचे पाउल
क्रांतिनिष्ठा
दादाच्या बोधकथा
दादांचे स्नेहदर्शन
क्रांतिवादी तरुणानो
पाकिस्तानी प्रवृत्तिचा प्रतिकार
आपल्या गणराज्यांची घडन
स्नेहाचा झरे
अंतरीचे उमळे
लोकनीति-विचार
दादांची भाषणें
सर्वोदय-दर्शन
स्त्री-पुरुष सहजीवन
दादांच्या शब्दात दादा (दो भागों में)
क्रांतिच्या संदर्भात
सम्पूर्ण क्रांति
मैत्री
तरुणाई
पहाट तारे
प्रिय मुली
आशा उदयाची

गुजराती

विचार क्रांति (चार खण्डों में)
क्रांतिनु शुध साधन
तरुणाने

सर्वोदयनी मीमांसा
स्त्री-पुरुष सहजीवन
बहनो अने क्रान्ति
देशनु पायानु राजकारण
मीमांसा क्रांतिनी प्रक्रिया
अहिंसक क्रांति संगठन
क्रांतिनु शुभ साधन
लोकक्रांति
दादाना टुचका

मलयालम

विप्लव पुरोगमनम

तेलुगु

साम्ययोग तिस्ते वापीयिल

अंग्रेजी

Philosophy of Total Revolution
Talks on Total Revolution

●

सर्वोदय की भूमिका

सर्वोदय अब एक सार्वभौम जीवन - दर्शन होने जा रहा है।

जो लोग सबसे पीछे हैं, दबे हुए हैं, बुरी से बुरी हालत में हैं, उनके उद्धार का जिम्मा और सबों पर है, यही है सर्वोदय का असली सिद्धान्त। मनुष्य - जीवन स्वार्थ की बुनियाद पर खड़ा न होकर नीति की बुनियाद पर खड़ा करना, यही रहेगा सर्वोदय का पुरुषार्थ। एक ओर स्वदेशी और दूसरी ओर सर्वोदय। दोनों मिल के हमारा जीवन-दर्शन संपूर्ण होता है।

सर्वोदय सत्ययुग की स्थापना का प्रारम्भ है। अहिंसा उसका प्राण है और सत्याग्रह उसकी शक्ति है। सर्वोदय सत्ययुग की स्थापना के लिए प्रस्तुत है। स्वराज्य यानी सर्वराज्य उसका राजनैतिक आदर्श है और विश्वकुटुम्ब, उसका अंतिम आदर्श।

—बाबा धर्माधिकारी

सर्व सेवा संघ प्रकाशन
राजघाट · वाराणसी